॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

वर्ष तीसरा
अंक ४-५

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण-भाद्रपद
२४७२

आत्मा का यथार्थ निर्णय

साक्षात् तीर्थंकर भगवान से आया हुआ उपदेश, परम गुरुओं की परंपरा से प्राप्त हुआ है। संतों ने उसे अनुभव में लेकर, जन्म-मरण नाशक शुद्धदृष्टि से अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने का उपाय शुद्धनय है, यह जानकर संसारी जीवों के भाव मरणों को दूर करने के लिये अकषाय करुणा करके शुद्धनय को ही मुख्यत: देकर उसका प्रगट उपदेश खूब बलपूर्वक किया है।

जड़ कर्म के बंधन से रहित, पर में कार्यकारण हीन पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव आत्मा है, उसे यथार्थ जानकर उसका श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि न रहना अर्थात् वर्तमान संयोगी अवस्था को अपना स्वरूप न मानना, और पर में-कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि के फल में अनादिकाल से चक्कर लगाता है, इसलिये उस भूल का त्याग करके मैं वर्तमान अवस्था के बराबर ही नहीं हूँ किन्तु मैं विकारी अवस्था का नाशक हूँ, इस प्रकार शुद्धनय के द्वारा पूर्ण केवलज्ञान स्वभावी आत्मा को स्वीकार करना, सो सच्ची श्रद्धा का विषय है।

पूर्ण स्वरूप शुद्ध आत्मा के यथार्थ निर्णय के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती और स्वरूप की सच्ची श्रद्धा के बिना यथार्थ चारित्र और केवलज्ञान नहीं हो सकता।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया | शाश्वत सुख का मार्ग १६-१७ दर्शक मासिक पत्र | छुटक अंक पांच आना

इसके बिना कैसे रहा जा सकता है ?

पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा श्री समयसारजी की गाथा ३३ पर प्रवचन

धर्म उसका नाम है कि धर्म को जाना, माना और उसके बाद जब प्रतिकूल प्रसंग आये, तब समझे कि वह उसमें और मैं अपने में हूँ। न तो उसमें मेरा हाथ है और न मुझमें उसका हाथ है किन्तु अभी जहाँ तक अपनी अशक्ति है, वहाँ तक अशुभराग को दूर करके शुभराग होता है, और वह शुभराग भी अपनी मर्यादा में होता है क्योंकि स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके वह शुभराग भी नहीं होता, किन्तु यहाँ पर तो उस मर्यादा के शुभराग को भी दूर करने की बात है।

समयसारजी में आचार्यदेव कहते हैं कि शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप के भाव तेरा नहीं हैं। तू इनसे पर है, वे तुझसे अत्यंत भिन्न हैं। तुझमें पर नहीं है, यह आत्यंतिकरूप में निषेध किया है। जिसने पर से पृथकता जान ली है, उसने पर से एकत्व को भी उखाड़ फेंका है। ऐसे मुनियों ने पर के साथ के एकत्व का आत्यंतिक निषेध किया है तो फिर अब इस पुरुष को तत्काल ज्ञान न होगा? अवश्य होगा ही।

भाई! पुण्य-पाप के विकारी भाव नाशवान हैं, उससे तेरा अविनाशीस्वरूप भिन्न है। हम उस अविनाशीस्वरूप को प्रगट कर चुके हैं, वही तुझ से कहा जाता है तो वह तेरी समझ में क्यों नहीं आयेगा? अवश्य आयेगा, अवश्य भान होगा ही। यह बात तेरे कान में पड़े, तुझे सच्ची जिज्ञासा हो, रुचि हो, तब फिर तेरी समझ में क्यों न आयेगा? आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अनेक पहलुओं से आत्मा को पृथक् बताया है, तब फिर अब तत्काल प्रतीति क्यों नहीं होगी? तत्काल आबालवृद्ध सभी को प्रतीति अवश्य ही होगी।

वह ज्ञान कैसा होकर प्रगट होता है? अपने निजरस से आकृष्ट होकर एकरस होता हुआ

प्रगट होता है। मैं आनंदमूर्ति हूँ, इस प्रकार की श्रद्धा के द्वारा यदि उसमें एकाग्र हो तो ज्ञान कैसा प्रगट होता है ? अकेला ज्ञान ही नहीं, किन्तु साथ में आनंद को लेता हुआ प्रगट होता है, आकुलता और पराधीनता को दूर करता हुआ प्रगट होता है। प्रतीति के होने पर शांति होती है, आनंद होता है। प्रतीति के होने पर आकुलता दूर न हो अथवा शांति न हो–ऐसी बात इस शास्त्र में नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी कही हुई बात को सुनकर किस पुरुष को यथार्थ ज्ञान नहीं होता ? अवश्य होता है। यहाँ यह बताया जाता है कि कौन कहनेवाला है और किसके लिये कहा जा रहा है। जबकि कहनेवाला ज्ञानी है और समझनेवाला पात्र है, तब फिर समझ में क्यों नहीं आयेगा ? अवश्य समझ में आयेगा। शरीर, मन, वाणी मेरे नहीं हैं, उनकी ओर होनेवाला आकर्षण मेरा नहीं है। इस प्रकार वीर्य पर की ओर से रुक गया और यह जान लिया कि मेरा ज्ञान–आनंद का वीर्य मुझमें है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जिसे शीघ्र ही यथार्थ प्रतीति नहीं हो जायेगी ? अवश्य होगी ही। जिसने पात्र होकर सुना, वह यथार्थता को क्यों न प्राप्त करेगा ?

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी कही हुई बात जगत को अवश्यमेव मोक्ष देगी। हमने शरीर और आत्मा की पृथकता के गीत गाये हैं। पृथक्त्व को भिन्न–भिन्न करके बताया है। तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो जड़ और चैतन्य के बटवारे को नहीं पा सके ?

आचार्यदेव कहते हैं कि भला, ऐसी अपूर्व बात को प्राप्त किये बिना पंचम काल के जीव क्यों रह जाय ? इस पंचम काल में हमारे मन में ऐसे शास्त्र की रचना करने का विकल्प उठा और शास्त्र रचा गया, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो स्वरूप को प्राप्त नहीं करेगा ? इस बात को सुनकर ऐसा कौन जीव हो सकता है, जिसे आत्मा की प्रतीति न होगी ? अवश्य होगी ही। स्व–सत्ता के सन्मुख हुआ व्यक्ति, स्वरूप को पहचानता है और परसत्ता में गया हुआ स्वरूप को भूल जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पंचम काल में जीव क्रियाकांड में फँस गये हैं, हमें इस ग्रंथ के रचने का विकल्प उठा है तो जगत क्यों नहीं समझेगा ? अवश्य समझेगा। समयसार के संबंध में क्या कहें ! इसे तो जिसने समझा है, वही जानता है। यह सच्चा जिनशासन है। आचार्यदेव ने अद्‌भुत करुणा बरसाई है। यह समयसार किसी निमित्त–उपादान के बलिष्ट योग से रचा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि हम अपने स्व स्वभाव के बल से कह रहे हैं, तब फिर हमारा निमित्त ही ऐसा है कि भव्य जीव यथार्थ तत्त्व को अवश्य प्राप्त करेंगे। कैसा ज्ञान यथार्थता को प्राप्त करेगा ? अपने निजरस से आकृष्ट होकर, अज्ञान में जो रागरस के आकुलता का वेदन था, उस वेदन को तोड़कर अपने ज्ञान

और आनन्द रस से आकृष्ट होकर प्रगट होता है। ऐसा प्रभु, शांत, मीठे और मधुर रस से भरपूर है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर पुण्य-पाप के आकुलता वाले भावों को अंशतः नाश करता हुआ और अपने में एकाग्र होता हुआ निजरस को पाता है, इसका नाम है सम्यग्दर्शन-इसका नाम है सम्यक्त्व। शेष सब अपने माने हुये परिकर की बातें हैं।

व्यवहार का अर्थ है पराश्रित दृष्टि; उस से आत्मा को भिन्न बताया है। पराश्रित दृष्टि से कभी भी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विभाग करके आत्मा को पृथक् बताया है। कभी व्यवहार से परमार्थ प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार का विभाग बता दिया गया है, तब फिर इसे जान कर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे भेदज्ञान न हो ? अवश्य होगा। आचार्यदेव ने पंचम काल के प्राणियों की पात्रता को देखकर शास्त्र लिखे हैं। पंचम काल के पात्र जीव, जड़ और चैतन्य का विभाग करके अवश्य स्वरूप को पायेंगे। वे एकावतारी होंगे। यह तो प्रथम से प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात हैं, जो धर्म की मूल नींव हैं और मोक्ष का बीज है। जो वीतराग हो गये हैं, उनकी यह बात नहीं है, यह तो चौथी भूमिका की बात है।

जो शरीर, मन और वाणी की क्रिया है, वह मैं नहीं हूँ और जो संसार के बहाने से होनेवाली वृत्तियां एवं धर्म के बहाने से होनेवाली वृत्तियां और पर की ओर से होनेवाली वृत्तियां हैं, वे भी मैं नहीं हूँ। मैं तो एक चैतन्यमूर्ति अखंड ज्ञानस्वरूप हूँ। इस प्रकार यहाँ भिन्नत्व की प्रतीति दर्शाई गई है। यहाँ किसी दीर्घ संसारी की बात नहीं है। यहाँ पर तो उसकी बात है जिसे आत्मप्रतीति हो चुकी है और जो एक-दो भव में मोक्ष जानेवाला है। जिसने आत्मा के अनंत पुरुषार्थ को नहीं देखा उसे अनंत संसार का चक्कर लगाना है।

यदि कोई कहे कि कर्म मुझे बाधा देते हैं, काल बाधक है और जड़ अवगुण कराते हैं तो समझना चाहिये कि ऐसी मान्यतावाले पाखंडदृष्टि अनंत संसारी हैं, उनकी यहाँ पर चर्चा नहीं है।★

आत्मधर्म
: वर्ष : दूसरा : : आषाढ़ :
: अंक : ४-५ : : २४७२ :

निश्चय और व्यवहार

प्रश्न—श्री समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है तथा व्रत, तप, संयमादि को व्यवहार कहा है और हम भी ऐसा ही मानते हैं।

उत्तर—शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिये उसे निश्चय कहा है। अब यहाँ पर स्वभाव से अभिन्न और परभाव से भिन्न ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना चाहिये, किन्तु संसारी को सिद्ध मानना—ऐसा भ्रमरूप शुद्ध शब्द का अर्थ नहीं जानना चाहिये। व्रत, तप इत्यादि मोक्षमार्ग नहीं हैं, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहते हैं और इसीलिये उसे व्यवहार कहा है। इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपना करि निश्चय-व्यवहार नय कहे गये हैं—ऐसा ही मानना चाहिये, किन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं और यह दोनों उपादेय हैं-ऐसा मानना सो मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न—श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं तथा प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं, इस प्रकार हम इन दोनों को अंगीकार करते हैं।

उत्तर—ऐसा भी नहीं बन सकता, क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है, किन्तु एक ही नय का श्रद्धान होने पर तो एकान्त मिथ्यात्व होता है और फिर प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति हैं, वहाँ पर जिस द्रव्य की परिणति हो, उसे उसकी ही प्ररूपणा करें तो निश्चयनय और उसी को अन्य द्रव्य की प्ररूपणा की जाय तो वह व्यवहारनय है; इस प्रकार अभिप्राय के अनुसार प्ररूपणा करने से उस प्रवृत्ति में दोनों नय घटित हो जाते हैं किन्तु केवल प्रवृत्ति तो ही नयरूप नहीं हैं, इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

प्रश्न—तब फिर क्या किया जाय ? हम उसके संबंध में क्या समझे ?

उत्तर—निश्चयनय के द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान

स्वीकार करना चाहिये और व्यवहारनय के द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। श्री समयसार में भी यही कहा है कि —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलो ऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यग्निश्चयमेक मेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥

अर्थ—जिससे समस्त हिंसादिक अथवा अहिंसादिक में अध्यवसाय होता है, उन सबको छोड़ देना चाहिये—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इसलिये मैं यह मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है, वह सारा ही छुड़ाया है, तब फिर सत्पुरुष एक निश्चय को ही भलीभाँति निश्चयरूप में स्वीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते।

भावार्थ—यहाँ व्यवहार का त्याग कराया है, इसलिये निश्चय को अंगीकार करके निज महिमारूप प्रवर्तना युक्त है। षट्पाहुड़ में भी कहा है कि—

जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

अर्थ—जो व्यवहार में सोता है, वह योगी अपने कार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना चाहिये।

व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को अथवा उसके भावों को अथवा कारण कार्यादिक को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; अतः उसका त्याग करना चाहिये और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में मिलाता नहीं है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये। ★

सुख का स्वरूप और उसका उपाय

(पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

[जगत के सभी जीव सुख चाहते हैं और चाहते हैं कि वह सुख कभी भी दूर न हो। दूसरी बात यह है कि कोई जीव यह मानते हैं कि 'मुझे सुख चाहिये है' और कोई यह मानते हैं कि 'मुझे सुखरूप होना है' इन दोनों मान्यताओं में अंतर है। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं स्वयं शाश्वत स्वरूप स्वाधीन हूँ 'वह सुख चाहिये है' इस प्रकार की मान्यता से असंतोष से बाह्य में सुख ढूंढ़ता है और वह सुख के साधन-उपाय भी पराश्रय से मानता है, इसलिये उसकी दृष्टि पर संयोग पर ही रहती है—ऐसी पराधीन दृष्टिवाला जीव स्वाधीन सुख का अंश भी प्राप्त नहीं कर सकता यहाँ पर यही कहा जाता है।]

—श्री समयप्राभृत गाथा २१८-२१९—

जिसने यह माना है कि धर्म चाहिये है, उसकी संयोग पर दृष्टि है। अर्थात् वह बाहर से धर्म कर लूँ, पर की दया करूँ, पर की रक्षा करूँ, किसी का आशीर्वाद प्राप्त करके कल्याण करूँ, अत्यधिक पुण्य करूँ तो सुख हो, इस प्रकार परवस्तु के द्वारा धर्म (सुख) माँगता है और इसीलिये वह जीव परसंबंधरहित सुखस्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु जब जीव स्वयं ही अपने को शाश्वत् सुखरूप जानता है और मेरे सुखस्वरूप आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता के द्वारा मैं स्वयं ही सुखरूप हो जाऊँ—ऐसा मेरा स्वभाव है; इस प्रकार जब आत्मप्रतीति करता है, तब स्वाधीन दृष्टि होती है। अर्थात् उसे सुख के लिये कोई चाह नहीं रहती।

पुण्य-पाप के विकार से सुख नहीं है; दया, पूजा इत्यादि पुण्य राग और हिंसा इत्यादि पाप राग इत्यादि सब विकारी भाव हैं। उनसे जो जीव सुख प्राप्त होना मानता है, वह विपरीत मान्यता वाला है। आत्मा ही नित्य सुखरूप है; संयोग और क्षणिक विकाररूप आत्मा नहीं है, इसलिये विकार में आत्मा का सुख नहीं है।

'मुझे सुखरूप होना है' इसमें स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह निज से ही स्वयं सुखरूप है, सुख के लिये किसी परपदार्थ की आवश्यकता नहीं है। सुखरूप होनेवाला स्वयं अकेला है। उसमें पुण्य चाहिये, पर चाहिये, अन्य की सहायता चाहिये इत्यादि सब हो तो वह स्वयं सुखरूप होगा,

यह नहीं बन सकता; किन्तु वह स्वयं जिस स्वरूप में है, उसी स्वरूप में समझपूर्वक स्थिर हो जाय तो सहज आनंदरूप दशा प्रगट हो जाय अर्थात् वह स्वयं सुखरूप परिणमित हो जाय।

यहाँ श्री समयसार जी की २१८ वीं गाथा में सुवर्ण का दृष्टांत दिया है—जैसे परमाणुओं में सुवर्णरूप अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है कि शुद्धरूप में स्वयं ही सुवर्णपने से स्वतः होता है, इसी प्रकार ज्ञानी का स्वभाव है कि आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति है, उसकी प्रतीतिस्वरूप ज्ञान अवस्था का स्वभाव ही निज स्वतंत्ररूप में-ज्ञानानंदरूप में स्वयं होना है।

यहाँ पर अवस्था के स्वभाव का वर्णन किया है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की अवस्था के रूप में परमाणु ही होनेवाला है। वह स्वयं ही उसरूप होता है। वर्णादिगुण और उसे धारण करनेवाली गुणी वस्तु सदा स्थिर रहनेवाली है और वही नई अवस्था के रूप में सुवर्ण इत्यादि के रूप में होती है। उसे वह रूप बाहर से प्राप्त नहीं करना पड़ता—स्वभाव से ही उसरूप होता है, जिसमें वह है, वह प्रगट दशारूप में होता है—बाहर से प्राप्त नहीं करना पड़ता। मिट्टी को घटरूप होने में पर की आवश्यकता नहीं है। परमाणु माटीपन को पलटकर घटरूप स्वयं होते हैं। यदि घटरूप होने में मिट्टी को पर की आवश्यकता हो तो कुम्हार, चाकादि परवस्तु से ही घटत्व आ जाना चाहिये, इस प्रकार पराधीनता होगी; किन्तु त्रिकाल में कोई भी वस्तु पराधीन नहीं है। परमाणुओं में घटरूप होने की शक्ति है, वह स्वयं प्रगट होती है। वस्तु की क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें निमित्त की वाट नहीं देखना पड़ती। सोने का स्वभाव आभूषणरूप होने का है, इसलिये वह स्वयं होता है। सोना ही आभूषणरूप में परिणमित हो जाता है। परमाणु बदलते बदलते स्वयं ही सुवर्णरूप हो जाते हैं। उस सोने का स्वभाव ही अलिप्त है। यदि सोने को कीचड़ में डाल दिया जाय तो भी वह कीचड़मय नहीं होता, वह सुवर्णरूप में ही रहता है, कीचड़रूप नहीं होता तथा कीचड़ के द्वारा सोने में मलिनता भी नहीं आती। इसी प्रकार ज्ञानी अपने त्रैकालिक स्वतंत्र स्वभाव को सबसे पृथक् जानता है। वह स्वयं सुखरूप है, इसलिये बाहर से कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहता। पर संयोग में रहते हुये भी ज्ञानी को कोई पर-अज्ञानरूप करने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी स्वयं ज्ञानरूप ही होता है, अज्ञानियों की बाह्य संयोग पर दृष्टि होती है, इसलिये वे सुख के लिये संयोग प्राप्त करने की इच्छा किया करते हैं किन्तु वे असंयोगी तत्त्व को सुखस्वरूप नहीं जानते।

अपनी स्वाधीन सत्ता की महत्ता को न देखता हुआ अज्ञानी जीव यों मानता है कि मेरे सुख के लिये देव-गुरु-शास्त्र चाहिये, मैं अकेला क्या कर सकता हूँ। शरीर निरोगी चाहिये, बाह्य त्याग

और शरीर की क्रिया से धर्म प्राप्त करूँ; इसप्रकार अज्ञानी जीव अपने को अकिंचित्कर, दीन, शक्तिहीन तुच्छ मान बैठता है। वह अन्य परपदार्थों को मानता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं कौन हूँ? अज्ञानी की यह धारणा होती है कि अन्य की शक्ति से मेरा सुख होगा अर्थात् मुझमें अपनी कोई शक्ति नहीं है, किन्तु हे अज्ञानी जीव! यदि तुझमें शक्ति नहीं है तो वह कहाँ से आयेगी?

मैं अकेला अपने से पूर्ण हूँ, अनंत गुणों का शाश्वत स्वाधीन भंडार हूँ, मुझे अपने सुख के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र संबंधी शुभविकल्प की भी आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार पहले स्वाधीनस्वभाव को पहिचानकर हाँ तो कह। अभी तो यह सत्य को स्वीकार करने की और सत्य को पहिचानने की बात है, अपने घर की बात है। लोगों ने धर्म को बहुत महंगा मान रखा है, उनने सत्य को नहीं सुना, उधर रुचि ही नहीं की, इसलिये वे पहले से ही अपनी ऐसी धारणा बना बैठे हैं कि हम इसे नहीं समझ सकते और इस प्रकार वे आत्मा की परवाह नहीं करते।

समस्त आत्मा स्वतंत्र भगवान हैं, क्षणिक विकारमय नहीं है। स्वयं जिस स्वभावरूप में है, उससे अन्यरूप कभी नहीं होगा। इस प्रकार यदि स्वभाव को निश्चित करे तो स्वयं जिस धर्मरूप में है, उसी अवस्थारूप में निज को होना है, उसमें किसी पर निमित्त की अथवा राग की अवस्था के रूप में होने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् धर्म स्वाधीन है।

मुझे धर्मरूप-सुखरूप होना है। धर्मरूप होने का मेरा स्वभाव है। पुण्य-पाप के विकारी भाव को ठीक मानना और उसमें सुख मानना, सो यह विपरीत मान्यता ही महान पापरूप, अधर्म और दुःख है।

मुझे धर्मरूप होना है, कोई परवस्तु मेरे धर्म को करनेवाली नहीं है किंतु मैं ही धर्मरूप में अपने द्वारा होनेवाला हूँ। मुझे अकेले को धर्मरूप होना है। धर्म से पृथक् नहीं होना है—अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रादि कोई भी मेरेरूप में अथवा मैं उस पररूप होने वाला नहीं हूँ। सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और चारित्र की अवस्था के रूप में होनेवाला मैं अकेला ही हूँ, उसके लिये मुझे पर साधन की आवश्यकता नहीं है तथा मेरा ऐसा स्वरूप नहीं है कि मुझे अन्य किसी की वाट देखनी पड़े। मैं स्वाधीन हूँ, मैं अपने धर्म से कदापि रहित नहीं हूँ, इस प्रकार पहचान लेना ही धर्म है।

विकाररूप होने में संयोग की रुचि है—उसमें दुःख है और धर्मरूप अर्थात् सुखरूप होने में

असंयोगी अविकार स्वभाव की रुचि है। ''मुझे धर्मरूप होना है'' इसमें यह अंतर्हित है कि मैं वर्तमान प्रगट धर्मरूप नहीं हुआ, शक्तिरूप में धर्मस्वरूप पूर्ण है। आत्मा में अपार अनंत अक्षय सुखरूप धर्म भरा हुआ है, उस स्वभाव को पहचानकर उसमें एकाग्र होने पर धर्मरूप पर्याय प्रगट होती है अर्थात् आत्मा स्वयं धर्मरूप प्रगट होता है।

यह निर्जरा का अधिकार है। शुद्ध, अखंड, ध्रुव आत्मस्वभाव की यथार्थ दृष्टि के बल से शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता की हानि होना, सो निर्जरा है। निम्न साधकदशा में निरालंबी स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान बराबर है किन्तु वीतरागीपन से संपूर्ण स्थिरता नहीं कर सकता, वहाँ पर अशुभ पापराग से बचने के लिये सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा, प्रभावना इत्यादि में शुभराग होता है परंतु भावना तो अरागी के रूप में स्थिर रहने के पुरुषार्थ की है अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित पूर्ण धर्मरूप होने की है।

परसंबंध से रहित और क्षणिक पुण्य-पाप के भाव से रहित अक्षयसुखरूप-धर्मरूप होनेवाला मैं अकेला हूँ; इस प्रकार निश्चय करने पर किसी अन्य सामग्री की ओर देखना शेष नहीं रह जाता। पराश्रयरहित अपने स्वाधीन स्वभाव की पहले प्रतीति करे तो जैसा स्वभाव है, उसरूप होने के लिये अपने स्वभाव में देखना होता है। यदि कोई शुभाशुभभाव हो तो वहाँ यह जानना चाहिये कि वह भाव मेरे पुरुषार्थ की वर्तमान अशक्ति से बाह्य लक्ष्य को लेकर होता है; किन्तु वह भाव मेरे धर्मरूप में नहीं होता। यदि मैं अपने धर्म स्वरूप को अंतर्लक्ष्य करके, एकाग्रता करके उन्मुख होऊँ तो मैं उस धर्मरूप में होता हूँ। परवस्तु और देहादि की क्रिया सब पररूप में होती हैं, वह मेरे रूप में नहीं हो सकती। पुण्य-पाप का अनुभव दुःख है, आकुलता है, क्षणिक विकार है। मैं त्रिकाल अविकारी हूँ, मैं उस क्षणिक विकाररूप होनेवाला नहीं हूँ।

इस प्रकार सब ओर से सुखदृष्टि को खींचकर निरुपाधिक धर्मस्वरूप के लक्ष्य में स्थिर होनेवाला स्वयं अकेला सुखरूप होता है और वही वर्तमान धर्म है। धर्मरूप होने के लिये आत्मा को पर की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञानी को पर से भिन्न अपने स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान होने से वह स्वयं ही ज्ञानरूप में परिणमित है; उसे कोई भी संयोग अज्ञानरूप करने के लिये समर्थ नहीं है। यह बात यहाँ दृष्टांत से विस्तारपूर्वक समझाई गई है।

जैसे पुद्गल की सुवर्णरूप अवस्था का स्वभाव कीचड़ इत्यादि से मलिन होना नहीं है; इसलिये सुवर्ण अन्य का संयोग होने पर भी सुवर्णरूप में ही परिणमित होता है, कीचड़ का संयोग

उसे मलिन करने में समर्थ नहीं है। उसीप्रकार धर्मी अर्थात् आत्मा की धर्मरूप होनेवाली अवस्था का स्वभाव स्वयं सुखरूप और ज्ञानरूप होना ही है। मैं त्रिकाल अनंत गुण की मूर्तिरूप हूँ, क्षणिक राग की भावनारूप नहीं हूँ तथा पर से बिगड़ने तथा सुधरेनवाला भी नहीं हूँ, इस प्रकार स्वाधीन धर्म की श्रद्धा के बल से ज्ञानी स्वयं सुखरूप होता है। सुख के लिये किसी पर क्षेत्र अथवा काल को नहीं देखना होता।

लोग भी धर्म व्याख्या करते हुये कहते हैं कि :—

धर्म न वाड़ी ऊपजै धर्म न हाट विकाय।
धर्म विवेकहिं ऊपजै जो करिये तो थाय॥

धर्म करने का अर्थ है धर्मरूप होना। जो स्वतंत्ररूप में करता है, वह कर्ता है अर्थात् जो स्वतंत्ररूप से कार्यरूप होता है, वह कर्ता है। आत्मा धर्म करता है अर्थात् आत्मा स्वयं धर्मरूप होता है। सत्स्वरूप को पहचान कर निरुपाधिक धर्मरूप कार्य करनेवाला स्वयं धर्मरूप होगा या दूसरा ? कोई देव-गुरु अथवा शास्त्र तेरे धर्मरूप में होनेवाले नहीं हैं।

पहले श्रद्धा में परिपूर्ण सुखस्वरूप को स्वाधीनरूप में निश्चित करे और पर में सुखबुद्धिरूप मिथ्या मान्यता का सर्वथा त्याग करे तो वह स्वयं श्रद्धा में धर्मरूप हो। अर्थात् पूर्णता को लक्ष्य करके जो आंशिक निर्मलतारूप स्वभाव प्रगट किया, उसरूप वह स्वयं हो गया। किन्तु किसी शरीर, मन, वाणी इत्यादि पररूप अथवा शुभाशुभरागरूप होना अपने सुख के लिये शेष नहीं है; इस प्रकार की दृष्टिवाला धर्मी जीव चाहे जैसे संयोग में हो, फिर भी कोई पर उसे लाभ या हानि करने में समर्थ नहीं है। उसके ज्ञान को अज्ञानरूप करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। आत्मा में ही सुखरूप दृष्टि हुई है; इसलिए वह पर में अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं देखता, वह पुण्य अथवा पुण्य के फल को नहीं चाहता; इसलिये स्वभाव से ही वह धर्मरूप होता है।

जैसे कोई पापभाव छोड़कर पुण्यभाव करता है तो उसके फलरूप देवादिपद मिलता है और यदि पापभाव करता है तो उसके फलरूप नरकादि मिलता है। वे दोनों विकारभाव जैसे सफल हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप के विकार से रहित निरालंबी ज्ञायकस्वभाव को पूर्ण सुखरूप में पहचानकर उसकी श्रद्धा के रूप में जो भी होता है, उसे धर्म का प्रारंभ अपने में होता है; इसलिये वह अपने में सफल है। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं, इसलिये उनका फल बाह्य संयोग में जाता है और सच्ची श्रद्धा-ज्ञान स्वभाव है, इसलिये उसका फल स्व में जाता है।

स्वयं जिसरूप हो सकता है, उस स्वरूप को पहचानने से स्वयं उसरूप होता है। वह अपना स्वरूप होने से अपने पास रहेगा और जो अपना स्वरूप नहीं है, वह विकारभाव में स्वयं नहीं हुआ है अर्थात् वह विकारभाव अपने पास नहीं रहता। शरीर, मन, वाणी के रूप में अथवा देवपद की धूल के रूप में तू नहीं हो सकता, इसलिये उसकी रुचि छोड़ तो वह तेरे पास नहीं रहेंगे। इसका अशय यह है कि रागभाव से पर संबंध मिलता है किन्तु स्वभावभाव से—गुण से बाहर का कुछ नहीं मिलता। जो भीतर है, वह स्वरूप प्रगट होता है।

जो जीव अपने को पराश्रयवाला मानता है और विकारी भावरूप होनेवाला मानता है, उसकी दृष्टि पराश्रित संयोग पर होती है, इसलिये वह उस ओर की पुण्य-पाप की विकारी भावना के रूप में परिवर्तित होता रहता है। मैं स्वाधीन सुखस्वरूप हूँ, इस प्रकार जो जीव त्रिकाल असंग स्वभाव की प्रतीति करता है, वह स्वयं आत्मधर्मरूप होता है, स्वयं ही ज्ञानानंद से परिपूर्ण है ऐसी दृष्टि के अभ्यास से क्षणिक विकार का क्षय होता जाता है और आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तथा वीतरागता और केवलज्ञान अवस्थारूप हो जाता है। वह जिस रूप स्वयं होता है, उस रूप अपने को परिपूर्ण मानना तथा अवस्था से उस रूप अपने को परिपूर्ण मानना तथा अवस्था से उसरूप होने की श्रद्धा करना एवं जिसरूप में स्वयं नहीं है, उसरूप न होने की श्रद्धा करना, सो धर्मी का लक्षण है।

यह तो ऐसी बात है जो आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है। जिसके रुचि होती है, वह सब समझता है। कोई कहे कि मुझे मोक्ष चाहिये है तो क्या उसे बाहर से मोक्ष लाना है ? क्या लोक के अग्रभाग में स्थित मुक्ति शिला के पत्थर पर जाना, सो मोक्ष है कि स्वयं वस्तु स्वरूप पहिचान कर पूर्ण पवित्र दशा स्वरूप प्रगट होना वह मोक्ष है ? मोक्षदशारूप में होनेवाला आत्मा है। पुण्य-पाप के विकारभाव संयोग के लक्ष्य से होते हैं, वे बंधभाव हैं। उस बंधभाव से मुक्ति अर्थात् अशुद्धता का त्याग और संपूर्ण शुद्धता का ग्रहण चिदानंद ध्रुव आत्मस्वभाव के लक्ष्य से होता है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव यहाँ पर सुवर्ण और लोहे का दृष्टांत देकर स्वभाव की स्वतंत्रता बतलाते हैं कि किसी पर के द्वारा किसी में कोई परिवर्तन नहीं होता। जो परमाणु स्वयं सुवर्णरूप हुये हैं, उन्हें कीचड़ के द्वारा जंग नहीं लग सकती क्योंकि सोने का स्वभाव ही जंग नहीं लगने का है। इसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्मा की दृष्टि नित्य निरालंबी ज्ञानानंदी स्वभाव पर है, इसलिये वह स्वयं ज्ञानरूप परिणमता है। किसी पर से लाभ या हानि माननेरूप अज्ञान अथवा रागद्वेष ममतारूप करने के लिये कोई समर्थ नहीं हो सकता।

जिसके आधार पर धर्म रहता है अथवा जो स्वयं धर्मरूप होता है, वह धर्मी है। मैं नित्य ज्ञान और सुखरूप हूँ, जिसे ऐसी निज की श्रद्धा है, वह अपने सुख के लिये पर सामग्री की इच्छा नहीं करता। वह पुण्य-पाप विकाररूप होने की इच्छा नहीं करता, इसलिये वह किसी भी काल में मलिन नहीं होता, किन्तु स्वभावदृष्टि के बल से उसके शुद्ध की ही वृद्धि होती है। अल्प अशुद्धता है, उसकी प्रधानता नहीं है, किन्तु श्रद्धा में परिपूर्ण स्वाश्रयी ज्ञानस्वरूप हुआ है, उसकी मुख्यता है। यदि अशक्ति के कारण राग रहता है, सो वह अपने ही कारण से अस्थिरता का राग है, परसामग्री को लेकर राग नहीं है। मैं राग रहित स्वभावरूप होनेवाला हूँ—ऐसी स्वरूप की प्रतीति में वह रागरूप होना नहीं देखता, इसलिये वह परलक्ष्य में नहीं फसता। एक ओर स्वाश्रित स्वभावरूप धर्मदृष्टि है और दूसरी ओर पराश्रित विकाररूप अधर्मदृष्टि। वह उन दोनों को पृथक् कर देता है, जो धर्मी है, उसकी स्वाश्रित दृष्टि होती है, इसलिये उसे किसी परद्रव्य के प्रति स्वतः राग नहीं है अर्थात् वह राग रहित स्वभावरूप ही होता है। जहाँ सर्वत्र निरालंबी आत्मा पर दृष्टि है, वहाँ सबके प्रति राग का निषेध वर्तमान है और अज्ञानी की पराश्रित दृष्टि होती है, इसलिये वह जानबूझकर सबके प्रति राग-द्वेष करता है।

धर्मात्मा गृहस्थदशा में होता हुआ भी निरंतर सब ओर से निःशंक और निर्भय है कि मुझे राग-द्वेष-अज्ञानरूप करने में कोई समर्थ नहीं है क्योंकि मैं पररूप होनेवाला नहीं हूँ। स्व-रूप होनेवाला हूँ। वर्तमान अशक्ति के कारण जो राग हो जाता है, उस राग का राग धर्मी के नहीं होता और शुभाशुभराग के परिवर्तन से उसके शाश्वत एकरूप ज्ञायकस्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता। मैं त्रिकाल ज्यों का त्यों ऐसा ही हूँ। मैं विकार का नाशक हूँ, रक्षक नहीं। जिसे राग का राग है, उसे स्वभाव की दृढ़ता नहीं है किन्तु राग के प्रति आदर है; इसलिये वह राग को नहीं छोड़ना चाहता। जिसने यह मान लिया कि साक्षात् भगवान की उपस्थिति मुझे राग का कारण है, उसने पर के कारण राग को माना है, वह अज्ञान है। क्योंकि यदि वह स्वयं रागरूप न हो तो उसे कोई पर, रागरूप करने में समर्थ नहीं है। धर्मी जीव जानता है कि साक्षात् भगवान की उपस्थिति राग का कारण नहीं है किंतु अस्थिरता की अशक्ति है, उसे छोड़कर स्वरूप में मैं स्थिर नहीं हो सकता; अर्थात् प्रयत्न में कमी है, इसलिये राग आता है। यदि मैं उसी क्षण प्रयत्न के द्वारा राग को तोड़कर स्थिर हो जाऊँ तो मुझे भगवान के प्रति जो राग है, उसमें भी नहीं रुकना है। भगवान भले बिराजमान रहें, उनके कारण से मुझे राग नहीं है। मुझे रागरूप करने में कोई समर्थ नहीं है, यह बात निम्नलिखित दो गाथाओं में कही है—

छो सर्व द्रव्ये रागवर्जक ज्ञानी कर्मनी मध्यमां,
पण रज थकी लेपाय नहि ज्यम कनक कर्दम मध्यमां॥२१८॥
पण सर्व द्रव्ये राग शील अज्ञानी कर्मनी मध्यमां,
ते कर्मरज लेपाय छे ज्यमलोह कर्दम मध्यमां॥२१९॥

टीका—जैसे सोना, कीचड़ में पड़ा हो तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे जंग नहीं लगती, क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहने का है; इसी प्रकार ज्ञानी जीव, कर्मों के बीच में रहता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति जो राग होता है, उसका त्यागरूप स्वभाव ज्ञानी के होता है। इसलिए वह ज्ञानी, अलिप्त रहने के स्वभाववाला है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा रहने से कीचड़ से लिप्त हो जाता है अर्थात् उसके जंग लग जाती है क्योंकि लिप्त होने का उसका स्वभाव है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, कर्मों के बीच रहकर कर्मों से लिप्त हो जाता है। क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति जो राग होता है, उसको ग्रहण करने का स्वभाव अज्ञानी का होता है और इसलिये अज्ञानी का स्वभाव लिप्त होने का है।

धर्मी जीव किसी भी प्रकार के राग को करने योग्य नहीं मानता। देव-गुरु-शास्त्र भी इसी सामग्री में आ जाते हैं। अरे! मैंने श्री समयसारजी की स्थापना की और उनको बिराजमान किया, अब उस ओर से राग कैसे तोड़ा जाय? यदि ऐसा माना जायगा तो वह विपरीतदृष्टि का राग है क्योंकि उसमें राग करने योग्य मान्यता है और यह मान लिया है कि सामग्री से राग होता है। ज्ञानी जीव किसी के भी प्रति अंशमात्र राग करना नहीं मानते। उनके ऐसी दृष्टि जागृत रहती है कि कोई भी राग मेरी शांति का कारण नहीं है, इसलिये ज्ञानी, राग से लिप्त नहीं होते, उनके न तो राग के प्रति कोई भावना होती है और न उत्साह।

जैसे कोई संसार के प्रति राग करना योग्य मानता है; उसी प्रकार यदि कोई देव-शास्त्र और गुरु को भी राग करने योग्य माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह बात नहीं है कि देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति कम की है अथवा परजीव की दया का पालन कम किया है, इसलिये मोक्ष रुका हुआ है तथा यह मान्यता भी भ्रम है कि मेरे द्वारा यदि अधिकाधिक जीव, धर्म को समझें तो मैं जल्दी मोक्ष चला जाऊँगा; और यह मान्यता भी बहुत बड़ी भूल है कि मैंने बहुत हिंसा की है, इसलिये जब तक समस्त प्राणी मुझे क्षमा नहीं कर देंगे, तब तक मैं विकल्पों को तोड़कर मुक्त नहीं हो सकता। इन सब विकल्पों में जीव, संयोग से अथवा पर से अपना धर्म मानता है, इसलिये वह अज्ञान है। सब

अपने द्वारा अपने भावों में हानि करते हैं और अपने अज्ञानभाव को बदलकर उस हानि को स्वयं दूर कर सकते हैं।

मैं अपनी भूल से विकाररूप में दु:खी होता हूँ और भूलरहित स्वभाव की प्रतीति के द्वारा भूल को दूर करके अविकारी सुखरूप होनेवाला भी मैं ही हूँ—जिसे ऐसा निर्णय हो गया है, उसे पर की ओर देखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अन्य जीव क्षमा करें या न करें किन्तु ''मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरे ज्ञान का स्वभाव, राग को छोड़ना है'' इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा स्थिरता करके स्वयं रागरहित वीतराग हो जाता है। तीर्थंकर भगवान उपस्थित हों, तब तक शुभराग न छूटे अथवा परजीव क्षमा न करें तो मोक्ष रुका रहेगा, जो यह मानता है, वह अपने को रागरूप होनेवाला मानता है, अर्थात् वह राग को अपना स्वरूप मानता है। मैं समस्त विरोधरूप मान्यता को दूर करके स्वयं वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप होनेवाला हूँ, यह जिसने जान लिया, वह वास्तव में किसी के भी राग में अटकनेवाला (रुकनेवाला) नहीं है। वह रागरूप नहीं होगा किन्तु ज्ञानरूप ही होगा। मेरा अस्तित्व नित्य स्व स्वभाव से है, कहीं अन्यत्र से प्राप्त करना पड़ता हो अथवा यदि राग करूँ तो वह स्थिर रहे, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार की निर्दोष दृष्टि का होना, सो धर्म है। और धर्मी का स्वभाव सर्व प्रकार के राग का त्याग करके उसरूप रहना है।

देखो भाई! ऐसा परम सत्य मानने में और समझने में अपूर्व धर्म है। धर्मरूप होनेवाले धर्मात्मा का आंतरिक अभिप्राय कैसा होता है?—इसे समझने की यह बात है। धर्मी अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं ही स्वभाव से विकार के त्यागस्वरूप और ज्ञानरूप स्वभाववाला होता है। अपने स्वभाव की श्रद्धा के बल से वह साक्षात निर्मलता का उत्पादक (निर्मलतारूप होनेवाला) और अशुद्धता का नाशक है, इसलिये उसके निर्जरा ही है और वह अल्पकाल में पूर्ण स्वभाव की अबंधदृष्टि के बल से पूर्ण सुखस्वरूप होता है। जो स्वयं ही सुखस्वरूप होता है, उसे सुख के लिये कोई विकल्प, मन, वाणी, देह, देव, गुरु, शास्त्र अथवा क्षेत्र, काल के संयोग की आवश्यकता नहीं होती।

अहो! यह तो भगवान आत्मा की सबकी स्वतंत्रता की बात है, सब के घर की सुखरूप बात है। मैं अकेला पूर्ण सुखस्वरूप हूँ, मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है। मैं ही अपने आप महिमावान् हूँ, क्षणिक विकार से मेरी महिमा नहीं है, इस बात को जीव को प्रीतिपूर्वक धारण करके उसका मनन करके अंतर में महिमा को लाकर नि:संदेह निर्णय करना चाहिये।

धर्म की वस्तुस्थिति तो त्रिकाल में ऐसी ही है, इस प्रकार प्रथम ज्ञान-श्रद्धान के द्वारा आत्मा में उत्कृष्टतया बहुमान लाकर यथार्थ निर्णय करे तो धर्मरूप सुखरूप होनेवाले को जिस स्वरूप में स्वीकार किया और प्रतीति में लिया, उसरूप वह अवश्य ही होगा, इसलिये वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा ही समझकर उसरूप होना, सो ही सबके लिये कल्याण का सनातन मूलमार्ग है।

सर्व द्रव्य से भिन्न मेरे स्वरूप में ही सुख है, सर्व द्रव्यों के प्रति राग करनेवाला मैं नहीं हूँ अर्थात् किसी भी प्रकार का राग मेरा कर्तव्य नहीं है; पहले इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये। यथार्थ समझ के बाद तत्काल ही सब राग दूर न हो सके, तब वहाँ अशुभभावों से बचने के लिये निर्दोष देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान के साथ भक्ति पूजा, व्रत इत्यादि अनेक प्रकार के शुभराग आते हैं किन्तु ज्ञानी के उस राग की रुचि अथवा भावना नहीं होती, क्योंकि ज्ञानी का स्वभाव सर्व द्रव्यों के प्रति जो राग है, उसे छोड़ना है। ज्ञानी के निरालंबी वीतरागस्वरूप होने की भावना है। मेरा स्वरूप सर्व द्रव्य के आलंबन से रहित स्वाधीन है। मैं इस प्रकार की निरालंबन स्वरूप की दृष्टि और स्थिरतारूप होनेवाला हूँ। जो प्रथम इस प्रकार का निःसंदेह निर्णय आत्मा में करता है, वह रागरहित वीतरागस्वरूप में परिणत होता है।

श्री समयसार जी की अंतिम गाथा में कहा है कि —

इस समय प्राभृत का पठन कर, अर्थ तत्त्व सु जानि के।
स्थिर अरथ में आत्मा जो, सौख्य उत्तम हो वही॥४१५॥

सर्व शास्त्रों के साररूप समयसारजी में सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार जो योग्य जीव चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा के अर्थ और तत्त्व से जानकर—स्वभाव क्या है, और अवस्था क्या है, —इसे जानकर अपने स्वभाव में पुण्य-पाप हीन श्रद्धा-ज्ञान स्थिरता को लेकर स्थिर होगा, वह आत्मा स्वयं ही उत्तम सुखरूप होगा।

यहाँ पर यह नहीं कहा है कि "उस आत्मा को सुख मिलेगा" किन्तु "वह स्वयं ही सुखरूप होगा" यह कहकर सुख और आत्मा का अभेद बताया है। अर्थात् आत्मा के कहीं बाहर से सुख नहीं आता किन्तु आत्मा स्वयं ही सुखमय है, यह बताया है। सुख गुण आत्मा का है, उसे कोई दूसरा ले नहीं गया कि जिससे आत्मा को अपने सुख के लिये दूसरे की आवश्यकता पड़े। वह स्वभाव से स्वतः सुखरूप है, इसलिये किसी के सामने रंक अथवा उपकृत होने की आवश्यकता नहीं है। साथ ही सुख के लिये कोई संयोग भी प्राप्त नहीं करना होते। मुक्ति का अर्थ है समस्त

विभावों से पृथक् होना, अथवा समस्त दुखों से छूटकर पूर्ण सुखरूप होना। सुख स्व-में परिपूर्ण है और वही प्रगट होता है, कहीं सिद्ध शिला में से सुख नहीं आ जाता।

आत्मा को किसी बाह्य संयोग से सुख प्राप्त नहीं होता। यदि बाहर से सुख मिलता हो तो यह कहना होगा कि सुख भी संयोगी वस्तु है, किन्तु वास्तव में सुख तो आत्मा का स्वभाव है, वह किसी संयोग से उत्पन्न नहीं होता। आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है, इसलिये उसे सुखरूप होने के लिये किसी पर वस्तु की अथवा परवस्तु की ओर झुकने की आवश्यकता नहीं है। स्वाधीन स्वरूप से आत्मा सुखी है। जैसे सोना स्वभाव से—अपनी शक्ति से ही मलिनता के त्यागरूप स्वभाव में परिणमित है, इसलिये उसे कीचड़ के साथ रहने पर भी जंग नहीं लगती; इसी प्रकार स्वभाव से ही ज्ञानरूप परिणमित आत्मा का स्वभाव सर्व रागों के त्यागरूप है, इसलिये चाहे जैसे संयोग में होने पर भी वह ज्ञानरूप ही परिणमित होता है। अस्थिरता का राग होने पर भी उसका स्वभाव, राग के त्यागरूप है। परिपूर्ण स्वभाव की भावना में क्षणिक राग की भावना नहीं है, इसीलिये कहा है कि ज्ञानरूप हुये आत्मा का स्वभाव सर्व परद्रव्यों के प्रति जो राग किया जाता है, उसके त्यागरूप है।

अज्ञानी को स्व-पर की पृथक्ता का भान नहीं होता, ज्ञान और राग का विवेक नहीं होता और ऐसी प्रतीति भी नहीं होती कि अपना स्वाधीन ज्ञानस्वभाव ही सुखमय है; इसलिये उसके संयोग और राग की रुचि है तथा उसकी भावना है। अतएव सर्व परद्रव्यों के प्रति जो राग किया जाता है, उसके ग्रहणरूप उस अज्ञानी का स्वभाव है। (यहाँ पर ज्ञानरूप अवस्था और अज्ञानरूप अवस्था का स्वरूप समझाया गया है) अज्ञानी परद्रव्य से सुख-दुःख मानता है, इसलिये वह समस्त परद्रव्यों के प्रति मर्यादातीत रागद्वेष करके दुःखी होता है। जैसे लोहे का स्वभाव कीचड़ के संयोग से काट लगने का है (यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कीचड़, लोहे को जंगरूप नहीं करता किन्तु लोहे की उस पर्याय का स्वभाव ही जंगरूप हो जाना है, इसलिये वह जंगरूप हो जाता है); उसी प्रकार अज्ञान की क्षणिक अवस्था के रूप में हुये अज्ञानी का वर्तमान अवस्था में पराश्रित दृष्टि से विकाररूप होने का स्वभाव है। कोई परद्रव्य उसे विकाररूप नहीं करता, किन्तु स्वयं ही स्वाधीन लक्ष्य को भूला हुआ होने के कारण वह पराश्रय से विकारी होता है। 'मैं त्रिकाल अविकारी असंग स्वरूप हूँ' अज्ञानी को इसकी कोई खबर नहीं है किन्तु वह अपने को इस प्रकार पराश्रित मानता है कि मैं पर के प्रति रागद्वेषरूप होनेवाला हूँ, मुझे पर से सुख-दुःख होता है। संयोग के परिवर्तन से मेरे भाव में परिवर्तन होता है, इस प्रकार जिसने पर के कारण अपने को विकृतरूप

होना माना है और अपने को पर से भिन्न नहीं माना, वह परलक्ष्य को छोड़कर स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता; इसलिये उस अज्ञानी का स्वभाव सर्व परद्रव्यों के प्रति राग करना होता है। एक ओर परिपूर्ण स्व और दूसरी ओर सर्व पर, इस प्रकार दो भाग करके भेद विज्ञान ही यहाँ कराया है। आज की बात बहुत ही उत्तम शैली से कही गई है। आज के न्यायों को बारंबार विचार करके पचाना चाहिये और अंतर में मनन करके निर्णय करना चाहिये।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है और पर स्वरूप से त्रिकाल में भी नहीं है, यह मूल सत्य है। प्रत्येक आत्मा, पर से त्रिकाल भिन्न है; इसलिये पर के द्वारा किसी को किसी भी प्रकार हानि-लाभ नहीं हो सकता। सभी आत्मा अपने स्वरूप से भगवान ज्ञानानन्द पूर्ण सामर्थ्यवान हैं, वे क्षणिक विकार योग्य नहीं है और न विकाररूप ही होनेवाले हैं। वर्तमान में मोक्षस्वरूप है—ऐसी आत्मस्वरूप की बात अपने आत्मा में जम गई है, इस प्रकार के अनेक जीव तैयार हो चुके हैं, मुक्ति की मंडली तैयार हो गई है, यह सनातन सत्य सर्व विदित है। सभी आत्मा स्वभावतः मोक्ष स्वरूप हैं; उस स्वभाव की श्रद्धा ज्ञान और उसकी अरागी स्थिरतारूप होनेवाला मैं स्वयं हूँ, ऐसी श्रद्धा करके आत्मा में परमानंददशा की प्रसिद्धि करने की घोषणा की जा रही है।

अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है, इसलिये वह अपने स्वाधीन सुखस्वरूप को वास्तविकतया स्वीकार नहीं कर सकता। उसका जैसा स्वरूप है, वह वैसा नहीं देखता। अपना जैसा परिपूर्ण स्वरूप है, वैसा ही जानना-मानना और उसमें किंचित्मात्र भी विपरीतता को न आने देना, सो यही जागृतरूप में आत्मधर्म का अनंत पुरुषार्थ करते रहने की सत् क्रिया है। आत्मा अंतरंग ज्ञानानंद स्वरूप है, देहादिरूप अथवा पुण्य-पापरूप नहीं है, इसकी रुचि अथवा प्रतीति अज्ञानी के नहीं है, इसलिये उसका लक्ष्य पर के ऊपर है। वह निज को यह मानता है कि मैं पररूप होनेवाला हूँ इसीलिये वह सुख के लिये संयोग चाहता है।

कहा जाता है कि यदि पेट में रोटियाँ पड़ें तो शांति से धर्म हो, अच्छा वातावरण हो तो सद्विचार आयें, किंतु क्या रसोई का काम करते हुये अच्छे भाव आ सकते हैं? अज्ञानी जीव निरंतर ऐसी परावलंबी दृष्टि से अपने सुख को पराधीन मानता है कि यदि भगवान की प्रतिमा के पास जायेंगे तो शुभभाव होंगे, किन्तु वह अनादि की ऐसी पराश्रित दृष्टि को लेकर साक्षात् तीर्थंकर की धर्मसभा में भी पहुँच जाता है तो वहाँ भी वह ऐसी स्वाधीन तत्त्वदृष्टि नहीं कर पाता कि स्वाधीन स्वरूप में सुख है। और वह इस पराश्रितबुद्धिरूप विपरीत मान्यता के फंदे को नहीं छुड़ा सकता कि

कुछ पुण्य चाहिये और अमुक संयोग हो तो ठीक हो, इसी कारण से यह दु:खी होकर परिभ्रमण कर रहा है।

जो पर से आत्मसुख मानता है, वह पर के ऊपर से दृष्टि को क्यों हटायेगा? पर के ऊपर से दृष्टि को उठाये बिना अज्ञान दूर नहीं हो सकता। जिसने अज्ञानभाव से जिन-जिन पदार्थों को अनिष्ठ या खराब माना है, उन सबके प्रति उसने द्वेषबुद्धि बना ली है। जिसने परपदार्थ के कारण हानि मान रखी है, उसने यह माना है कि परपदार्थ मुझे द्वेष कराते हैं और इसीलिये वह द्वेष को दूर नहीं कर सकेगा। अज्ञानी अनंत पदार्थों में अनुकूलता-प्रतिकूलता का भेद करके सबके प्रति राग-द्वेष करता है, इसलिये वर्तमान अज्ञानदशा का स्वभाव (लोहे के दृष्टांत को लेकर) सब के प्रति की रुचि को नहीं छोड़ता। अज्ञानी का लक्षण ही राग को कर्तव्य मानना है। जिसने पर से अपने में सुख-दु:ख माना है, उसने यह मान लिया है कि पर मुझमें प्रविष्ट होकर मुझरूप होता है और मेरे गुण पर में जाते हैं, वह वस्तु की स्वाधीनता को नहीं मानता।

निमित्त का अर्थ है परवस्तु। जिसने परवस्तु से लाभ या हानि को माना है, उसने यह भी माना है कि यदि मैं अच्छे निमित्तों को प्राप्त करूँ तो सुख हो, मैं पर का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ, मैं पर को अपने आधीन करके उसकी व्यवस्था कर सकता हूँ, अर्थात् परपदार्थों का संबंध प्राप्त करके उन सबके साथ राग-द्वेष किया करूँ। ऐसी विपरीतदृष्टिरूप महा अज्ञान में चैतन्य स्वरूप की अनंत हिंसा करनेवाला महापाप है और वह महापापरूप दृष्टि ही संसार के अनंत जन्म-मरण के गर्भ में सड़ाने का मूल है।

यह बात बहुत अच्छी है, आत्मस्वरूप की बात अपूर्व है, समझने योग्य है। यदि रुचिपूर्वक एक घंटा भी सुनने में ध्यान लगाये तो महापुण्य का बंध हो और उसके फलस्वरूप पुन: आत्महित की परम सत्य बात सुनने का सुयोग प्राप्त हो। और जो जीव इस सत्य बात का अपने ज्ञान में निर्णय करके यथार्थ समझ के द्वारा अपने हिताहित का विवेक करे तथा सत्य का बहुमान और महिमा जानकर विचार करे, उसे अपूर्व कल्याणस्वरूप सम्यग्दर्शन-आत्मप्रतीति हो और उसे निर्जरारूप धर्म प्राप्त हो। यदि सत्य को समझने की ओर रुचि करके उसका बहुमानपूर्वक विचार करे तो जीव, धर्म-सम्मुख हो और उसमें निर्जरा भी हो; किन्तु सत्य की रुचि और बहुमान तब होता है, जबकि उसकी (सत्यता की) कीमत हो।

अज्ञानी की निमित्ताधीन सुखबुद्धि नहीं छूटती, इसलिये वह बाहर से सुख प्राप्त करना

चाहता है। वह यह मानता है कि यदि शरीरादिक अच्छे रहें और कर्ण इन्द्रियादिक ठीक हों तो मुझे सुख हो, इसीलिये वह परपदार्थ का संबंध और राग करने का इच्छुक रहता है, वह संग और विकार से छूटना नहीं चाहता। इसलिये अज्ञानी जीव लोहे की भांति राग से लिप्त होने के स्वभाववाला है और इसीलिये वह राग के और पर के संबंध से युक्त—पराधीन दु:खी ही रहता है। और ज्ञानी के शुद्ध स्वाधीन दृष्टि है तथा अंतर प्रतीति प्रगट है, इसलिये वह किसी भी पर द्रव्य को रागद्वेष करने योग्य नहीं मानता। वह स्वद्रव्य में परिपूर्ण स्वाधीन सुख मानता है, इसलिये स्व में ही स्थिर होना चाहता है और इसीलिये वह सोने की भांति राग के त्यागरूप स्वभाववाला है। अस्थिता की वृत्ति का वह नाशक है; इस प्रकार दृष्टिभेद से ज्ञानी और अज्ञानी के बीच आकाश-पाताल के समान महान् अंतर है, यही बात यहाँ समझाई गई है। ★

आपसे इतनी आशा की जाती है

हमें आत्मधर्म के पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आत्मधर्म पत्र कैसा है ? इसका प्रत्येक लेख पाठकों को अध्यात्मरत बना देता है, और वे इसमें वह पाते हैं जो उनने पहले कभी कहीं नहीं पाया था।

जबकि यह बात है तब आप अकेले ही क्यों अध्यात्मरस का पान करें ? दूसरों को भी इसका स्वाद लेने की प्रेरणा कीजिये। बस, इसीलिये आपसे इतनी आशा की जाती है कि आप एक नया ग्राहक बनाकर उनका पता 'आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकडिया—काठियावाड़' भेज दीजिये।

प्रश्नोत्तर

परम पूज्यश्री कानजीस्वामी से
पूछे गये प्रश्न और उनके द्वारा
: : प्राप्त उत्तर : :

(१)

प्रश्न—शुभभाव और अशुभभाव—इन दो भेदों का मूल कारण क्या है ? देव, गुरु, शास्त्र अथवा स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर की अपेक्षा के बिना आत्मा में शुभ-अशुभभाव के भेदों का क्या कारण है ?

उत्तर—भेद की अपेक्षा से शुभ और अशुभ को भिन्न माना गया है, उसका कारण विपरीत दिशा में वीर्य की मन्दता अथवा तीव्रता के रूप में युक्त किया गया है। जब विपरीत दशा में वीर्य तीव्ररूप में युक्त होता है, तब अशुभभाव होता है और जब मन्दरूप में युक्त होता है, तब शुभभाव है। और पुण्य-पाप—दोनों विकार हैं, इसलिये परमार्थतः वे दोनों एक ही हैं। इस प्रकार अभेददृष्टि से देखने पर उसका कारण अज्ञानभाव से स्वलक्ष्य से हटकर परलक्ष्य पर जाना है।

(२)

प्रश्न—एक जीव ज्ञानी मुनि है। उसके संयम-दशा-सातवाँ, छठवाँ गुणस्थान है, किन्तु जब वह उस संयम-दशा में देह-त्याग करके देवलोक में जाता है, तब उसके वहाँ असंयमभाव-चौथा गुणस्थान होता है—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिसके मुनिदशा में चारित्र का पुरुषार्थ अप्रतिहत नहीं हैं, किन्तु प्रतिहत पुरुषार्थ है, उसके चारित्र अधूरा रह जाता है और इसीलिए नवीन भव का बन्ध हुआ है। यदि चारित्र अप्रतिहत होता तो नवीन भव का बन्ध नहीं होता और वह उसी भव में मोक्ष चला जाता।

वह छठ्ठे गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में आता है—वहाँ पर दृष्टि का दोष नहीं है, किन्तु चारित्र का दोष है। दृष्टि ने तो सामान्य एकरूप द्रव्य का लक्ष्य किया है। इसलिए वह अखण्ड है और इसीलिए वह दृष्टि दूसरे भव में भी बनी रहती है। किन्तु चारित्र गुण अखण्ड नहीं हुआ है, इसलिए वह छठ्ठे से चौथे गुणस्थान में आ जाता है। जो गुण अखण्ड हो जाता है, उस गुण को साथ लेकर जाता है और यदि गुण में खण्डता होती है, तो वह साथ में नहीं ले जाया जा सकता। यदि दृष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण हो जाएँ तो उसी भव में मुक्ति मिल जाए। किन्तु यदि दृष्टि क्षायक हो और चारित्र अपूर्ण रह जाए तो तीन भव के भीतर ही मुक्ति हो जाती है। यहाँ से छठ्ठे गुणस्थान में देह-

त्याग होने पर भी देवलोक में छठ्ठा गुणस्थान नहीं रहता—इसका कारण यह है कि उसका चारित्र खण्डित है; पुरुषार्थ में भंग हुआ है और सत्ता में प्रत्याख्यानावर्णादि कर्म विद्यमान हैं। जब वह देव से मनुष्य होगा, तब उसे चारित्र का पुरुषार्थ नए सिरे से करना होगा और जब वह उग्र पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों का सत्ता में से क्षय करेगा, तभी उसे मुक्ति-प्राप्ति होगी।

दृष्टि का विषय तो एकरूप अखण्ड है, इसलिये दृष्टि भी एकरूप रहती है। उसमें खण्ड नहीं होता। चारित्र की स्थिरता में क्रम होता है। उसमें दृष्टि का कोई दोष नहीं है। पर्याय का सम्बंध वर्तमान पुरुषार्थ के साथ ही होता है। वर्तमान पर्याय में पूर्व पर्याय का अभाव होता है, इसलिए पूर्व के दोष का कोई कारण वर्तमान पर्याय में नहीं है। देवलोक में जानेवाले मुनि के असंयतभाव होता है, इसका कारण उस अवस्था की वर्तमान योग्यता ही है और उसमें पुरुषार्थ का दोष है। वहाँ न तो कोई कर्म का कारण है, और न दृष्टि का दोष।

(३)

प्रश्न—यदि पूर्व की पर्याय वर्तमान का कुछ भी न कर सकती हो तो अमुक स्थान से आया हुआ जीव अमुक दशा प्राप्त नहीं कर सकेगा—यह क्यों? जैसे यह नियम है कि पंचम नर्क से निकलकर, मनुष्य होकर उसी भव से कोई जीव मोक्ष नहीं जा सकता—यह कैसे होता है?

उत्तर—जो जीव, मोक्ष नहीं जा सकता, उसमें उस जीव की वर्तमान अशक्ति ही कारण है। पहले उस जीव ने उग्र बलपूर्वक विपरीत वीर्य किया है, और वह विपरीतता स्वयं वर्तमान पर्याय में भी चालू रखी है; इसलिये उसके वर्तमान वीर्य की मन्दता विद्यमान है। वीर्य की मन्दता को वर्तमान-वर्तमान स्वयं लंबाये जाता है। पूर्व पर्याय विकार नहीं कराती। यदि वर्तमान विकारी कार्य (पर्याय) को स्वयं करे तो पूर्व की विकारी पर्याय को व्यवहार से कारण कहा जायगा। किन्तु यह बात नहीं है कि पूर्व की विकारी पर्याय कारण है, इसलिए वर्तमान कार्य भी विकारी ही होना चाहिए। यदि वर्तमान कार्य हो तो पूर्व को कारण कहा जायगा। परिणमन तो वर्तमान एक समयमात्र के लिये ही होता है, इसलिये बंधन भी एक ही समय के लिये है। शास्त्रों में जो तेतीस सागरोपम इत्यादि स्थिति के कर्मों की बात कही गई है, वह केवल यह ज्ञान कराने के लिए है कि "यदि जीव ऐसे ही विपरीत भावों को बनाए रखेगा तो ऐसा ही परिणमन होता रहेगा।" उसका हेतु यह बताने का है कि जीव का वर्तमान पुरुषार्थ कितना है। वह यह नहीं बताता है कि कर्म का बल अधिक है। वास्तव में तो पर्याय स्वयं व्यवहार है। फिर भी यदि पर्याय में निश्चयकारण और व्यवहारकारण का

विचार किया जायगा तो वर्तमान समय में उस अवस्था का उपादान (पुरुषार्थ) निश्चयकारण और पूर्व की पर्याय का व्यय, वर्तमान पर्याय का व्यवहारकारण है।

(४)

प्रश्न—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता-यह बात द्रव्यदृष्टि से है या पर्यायदृष्टि से ?

उत्तर—यह बात पर्यायदृष्टि से है। द्रव्य-गुण तो नित्य है, उसमें कुछ भी करणीय नहीं होता; करने योग्य तो पर्याय में है। जब एक द्रव्य की अवस्था होती है, तब अनुकूल निमित्त ही उपस्थित होता है, किन्तु अपनी पर्याय के रूप में तो वस्तु स्वयं ही परिणमन करती है। इसलिये अपनी पर्याय का कर्त्ता द्रव्य स्वयं ही है। अन्य उपस्थित पदार्थों ने इस द्रव्य की अवस्था में कुछ भी नहीं किया, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है। आत्मा क्या है और वह स्वयं क्या कर सकता है—यह अपने स्वाधीन ज्ञान से नहीं जाना और परावलम्बी ज्ञान से मात्र परपदार्थ को जाना, वहाँ पर विपरीतमान्यता के कारण जीव ने पर में कर्तृत्व मान लिया है। इन्द्रियज्ञान पराधीन है। वह मात्र परवस्तु की वर्तमान स्थूल पर्याय को जानता है। निज में जो विकल्प होते हैं—उन्हें वह नहीं जानता। तथा अपने विकल्परहित द्रव्य-गुण को भी वह नहीं जानता। यदि वह यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने द्रव्य-गुण और पर्याय को जाने तो अपनी अवस्था का कर्तृत्व माने और पर के कर्तृत्व को छोड़ दे। यदि वह अपनी अवस्था के लिये परपदार्थ की ओर न देखकर अपने द्रव्य की ओर देखे अर्थात् द्रव्यदृष्टि करे तो धर्म हो। इन्द्रियज्ञान न तो विकार को देख सकता है और न विकाररहित स्वभाव को ही। इन्द्रियज्ञान के द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि आत्मा क्या करता है। उस से मात्र जड़ की क्रिया दिखाई देती है। यदि आत्मा के अवलम्बन के द्वारा स्वाधीन ज्ञान करके आत्मा की क्रिया क्या है, यह जाने तो वह जड़ की क्रिया का कर्तृत्व नहीं मानेगा। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने स्वभाव की दृढ़ता होगी, पर के कर्तृत्व का अभिमान दूर होगा और सच्चा सुख प्रकट होगा।

(५)

प्रश्न—अग्नि को स्पर्श करने से दग्ध हो जाते हैं, यह जान लेने के बाद कोई अग्निस्पर्श का भाव नहीं करता तो फिर सम्यक्दृष्टि जीव, राग को बुरा जान कर भी राग युक्त क्यों होते हैं ?

उत्तर— यह ज्ञात होने पर भी कि यह वस्तु मुझे हानि करेगी-उसमें युक्त हुए बिना कभी

कभी रहा नहीं जाता। जैसे कोई बहुत समय से बीमार है, उसे यह मालूम है कि यह मिठाई मेरे लिये कुपथ्य है—हानिकारक है; वैद्य ने भी उसे खाने से मना किया है, फिर भी वह कभी-कभी रस की आसक्ति के कारण उसे खा लेता है। खाते समय भी वह यह जानता है कि यह मिठाई मुझे हानि पहुँचाएगी, फिर भी वह खाता है; इसी प्रकार ज्ञानी भी राग को अपना स्वरूप नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यथार्थ मान्यता होने पर भी, चारित्र की अस्थिरता में उनके अल्प-बन्ध का कार्य हो जाता है। ज्ञानी के अभिप्राय में राग का कर्तृत्व नहीं होता, इसलिये "कार्य हो जाता है" यह कहा गया है। किन्तु 'कर्ता है'—यह नहीं कहा, क्योंकि उसकी उसमें रुचि नहीं है—उसे दूर करने की ही भावना है। चारित्र की अस्थिरता में ज्ञानी के राग होता है, किन्तु वह उससे लाभ नहीं मानता, प्रत्युत हानि ही मानता है। उस राग से स्वरूप की आंशिक निर्मलता नष्ट होती है। यदि वह नष्ट न होती हो तो केवलज्ञान हो जाय। इस प्रकार ज्ञानी के राग होने पर भी उसका अभिप्राय भिन्न है।

(६)

प्रश्न—जब सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) होता है, तब चेतना का दर्शन उपयोग होता है या ज्ञान उपयोग ?

उत्तर—सम्यक् श्रद्धा के समय अपनी ओर का ज्ञान उपयोग होता है। जिस समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उस समय दर्शनोपयोग नहीं होता। किन्तु निज की ओर का जो ज्ञान-उपयोग होता है, वह दर्शनोपयोगपूर्वक होता है। सम्यक् श्रद्धा के समय अपनी ओर उन्मुक्त हुए ज्ञान को इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं होता। वहाँ पर बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होते। वह केवल-ज्ञान का अंश है। मतिज्ञान ने निज का विषय किया है, इसलिए वह केवलज्ञान का अंश है। मतिज्ञान अपने विषय को अभेद-रूप में ग्रहण करता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के समय ज्ञान मन के अवलम्बन से मुक्त है—अर्थात् वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं है। किन्तु अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म विकल्प विद्यमान है। यदि सर्वथा मन का अवलम्बन टूट जाय तो केवलज्ञान हो जाय। सम्यग्दर्शन होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता। बीच में गुणस्थान-भेद आता ही है।

जीवद्रव्य में श्रद्धा-ज्ञानादि अनन्त गुण है। उनमें कथंचित् गुण-भेद है। यदि गुण-भेद नहीं होता तो जब श्रद्धा निर्मल हुई थी, तभी केवलज्ञान हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। बीच में साधकदशा तो आती ही है। सम्यक्-श्रद्धा होने के बाद किसी को एक समय में ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य के प्रत्येक गुण कथंचित् पृथक् हैं। वस्तु की अपेक्षा से गुण अभेद हैं।

इसलिए सम्यक् श्रद्धा के समय दृष्टि में गुण भेद का विकल्प छूट गया है, किन्तु उसी समय ज्ञान में अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म गुणभेद का विकल्प विद्यमान है। (अबुद्धिपूर्वक विकल्प का अर्थ है—ज्ञान का मन के साथ सूक्ष्म संयोग)। यदि वस्तु में गुण सर्वथा अभेदरूप ही हो तो एक गुण के निर्मल होने पर सभी गुण पूर्ण निर्मल हो जाना चाहिए—अर्थात् श्रद्धा के साथ ही ज्ञान की भी पूर्णता हो जानी चाहिए। किन्तु श्रद्धा और ज्ञान की पूर्णता में अन्तर होता ही है, क्योंकि गुण भेद है। और क्योंकि, गुण भेद है, इसलिये गुणस्थान-भेद भी होता ही है। और द्रव्य-दृष्टि से वस्तु में गुण अभेद हैं; इसलिये एक गुण की निर्मलता प्रगट होने पर, समस्त गुणों की निर्मलता अंशतः प्रगट होती ही है।

(७)

प्रश्न—ग्यारहवें गुणस्थान में कषायभाव नहीं है, फिर भी सत्ता में मोहिनी कर्म का सद्भाव क्यों है ?

उत्तर—ग्यारहवें गुणस्थान में भी वीर्य की मंदता है। सातवें गुणस्थान में श्रेणी चढ़ते समय वीर्य जितने अप्रतिहत बलपूर्वक उठना चाहिये था, उससे कम बलपूर्वक उठा है। यदि श्रेणी चढ़ते समय अप्रतिहत पुरुषार्थ के द्वारा सत्ता में से ही कषाय का क्षय करते आये होते तो सीधा केवलज्ञान प्राप्त करते; किन्तु श्रेणी चढ़ते समय मन्द पुरुषार्थ के कारण कषाय का उपशम किया किन्तु उसे सत्ता में से नष्ट नहीं किया, इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान से पुरुषार्थ पीछे हट जाता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ पर मन्द पुरुषार्थ है, इसलिये सत्ता में मोहनीय कर्म विद्यमान है। यदि वह सम्पूर्ण पुरुषार्थ को जागृत करे तो चारों घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त कर ले। ग्यारहवें गुणस्थान का अन्तिम समय का वीर्य केवलज्ञान के वीर्य की अपेक्षा अनन्तवां भाग कम है। यदि उपादान की अपनी अवस्था में पुरुषार्थ कम न हो तो सामने निमित्त हो कैसे सकता है ? इसलिये उपादान के पुरुषार्थ की कचाई के कारण सत्ता में कर्म का अस्तित्व रहता है।

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के बीच यह अन्तर है कि ग्यारहवें की अपेक्षा बारहवें का वीर्य तीव्र है। मोह का उदय किसी में भी नहीं है। किन्तु ग्यारहवें में सत्ता में मोह का सद्भाव है और बारहवें में मोह का क्षय है। उपशमश्रेणी के चढ़ते समय जीव मन्दपुरुषार्थपूर्वक चला है, इसलिये वह ग्यारहवें से पुनः नीचे गिरता है। और फिर वह सातवें गुणस्थान में आकर तत्पश्चात् ही क्षपकश्रेणी माँड़ सकता है।

(८)

प्रश्न—श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण भिन्न हैं, फिर भी उन्हें रोकने में एकमात्र मोहकर्म को ही निमित्त क्यों माना है ? श्रद्धा को रोकने में दर्शनमोह और चारित्र को रोकने में चारित्रमोह निमित्त है; किन्तु इन दोनों को एक मोहनीय कर्म क्यों माना गया है ?

उत्तर—दोनों के कार्यों की कथंचित् समानता है, इसलिये दोनों को एक ही कर्म में मान लिया गया है। मोहनीय कर्म का एकमात्र कार्य है—स्वरूप में बहिर्मुख होने में निमित्तरूप होना। यह व्याख्या दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों पर लागू होती है। फिर भी दर्शन और चारित्र दोनों गुण भिन्न हैं, इसलिये उन्हें रोकनेवाली दो भिन्न प्रकृतियों का होना भी स्वाभाविक है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों मोहकर्म के भेद हैं। मूलतः मोहकर्म का कार्य एकमात्र बहिर्मुखी प्रवृत्ति कराना ही है। और उस बहिर्मुखी प्रवृत्ति के दो पहलू हैं—दर्शन और चारित्रमोहनीय का सद्भाव बहिर्मुख और उसका अभाव सो अन्तर्मुख है।

(९)

प्रश्न—दृष्टि पूर्ण हो और चारित्र अपूर्ण रहे; क्या ऐसा भी हो सकता है ?

उत्तर—गुणभेद की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान से दृष्टि पूर्ण हुई है किन्तु चारित्र पूर्ण नहीं हुआ। और अभेद की दृष्टि से-समस्त गुण अभेद है, इस अपेक्षा से-एक गुण की पूर्णता होने पर समस्त गुणों की पूर्णता होनी चाहिये। चौथे गुणस्थान में चारित्र इत्यादि गुण सम्पूर्णतया खिल नहीं सके हैं, इसलिये दृष्टि में भी कथंचित् अपूर्णता है। फिर भी चौथे गुणस्थान में दृष्टि ने जो विषय किया है, वह विषय परिपूर्ण है। उस श्रद्धा के विषय के आधार से ही—चारित्र की पूर्णता होती है। मैं चारित्र करूँ; इस प्रकार का विकल्प भी कषाय है, इसलिये वह चारित्र में बाधक है। सर्वगुणों से अभेद द्रव्य का लक्ष करना अर्थात् अभेद स्वभाव में दृष्टि का बल लगाना सम्यक्चारित्र का कारण है।

✺ ✺ ✺ ✺

मुक्ति का मार्ग

मुक्ति का मार्ग सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा सत्तास्वरूप ग्रंथ पर किये गये कुछ प्रवचनों का सार हैं। मुक्ति का मार्ग पाकर आप आत्मविभोर हो जायेंगे। यदि आपकी स्वाध्याय शाला में न हो तो आज ही मंगा लीजिये।

क्रमबद्धपर्याय का स्पष्टीकरण

आत्मधर्म के संयुक्तांक (१०-११-१२) में प्रगट हुये क्रमबद्धपर्याय शीर्षक लेख का

विशेष स्पष्टीकरण

(श्री समयसार की गाथा ३०८ से ३११ तक के श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से)

जो भी कार्य होता है, वह कर्ता के आश्रित होता और कर्ता उस कर्म के आश्रित होता है, कर्ता कार्य पर अवलंबित होता है, ऐसा नहीं होता कि कार्य कहीं हो और कर्ता कहीं रह जाय। जड़ की अवस्था के आश्रित जड़ और आत्मा की अवस्था के आश्रित आत्मा होता है। यह नहीं हो सकता कि कर्ता अलग रह जाय और अवस्था अलग बनी रहे। कर्ता और कार्य चैतन्य के चैतन्य में और जड़ के जड़ में स्वतंत्र हैं। कोई परद्रव्य किसी परद्रव्य की अवस्था को बदलने में समर्थ नहीं हैं।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों में से उत्पन्न होकर के भी जीव ही है, अजीव नहीं। भगवान आत्मा में क्रमबद्ध एक समय के बाद दूसरे समय की पर्याय और दूसरे समय के बाद तीसरे समय की पर्याय क्रमशः उत्पन्न होती है। एक समय में त्रिकाल की समस्त पर्यायें नहीं आ जाती। आत्मा अनादि-अनंत है, उसमें अनादिकाल की जितनी अवस्थायें होती हैं, वे सब एक के बाद एक होती हैं, वस्तु की क्रमबद्धता नहीं छूटती। आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण हैं, उसमें एक गुण की एक समय में एक ही अवस्था होती है। अनंत गुणों की मिलाकर एक समय में अनंत अवस्थाऐं होती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि अनंत गुण आत्मा में हैं। प्रत्येक गुण प्रति समय बदलता रहता है। यह नहीं हो सकता कि गुण न बदले; इसलिये प्रत्येक गुण समय-समय पर क्रमबद्ध बदलता रहता है किन्तु गुणों की तीनों काल की सभी अवस्थाऐं एक साथ नहीं आ जाती।

वस्तु अनंत गुणों का पिंड है, वस्तु में जो अवस्था होती है, वह एक के बाद दूसरी क्रमशः है, क्रमबद्ध होती है, क्रमशः होती है।

आत्मा में जो अवस्था होती है, उसमें आत्मा स्वयं क्रमशः परिणमित होता हुआ भी स्वयं ही है, दूसरी कोई वस्तु परिणमित नहीं होती। आत्मा कर्ता है और उसकी अवस्था उसका कार्य है। वह कार्य आत्मा में क्रमशः होता है, पास का दूसरा आदमी कर ही क्या सकता है। यदि एक दूसरे की अवस्था को करने लगे तो वस्तु पराधीन हो जाय। यदि पास में श्री तीर्थंकर खड़े हों तो वे भी

क्या कर सकते हैं ? अपनी रुचि अपने द्वारा यदि स्वभाव में आ जाय तो स्वभाव की क्रमबद्ध अवस्था होती है और अपनी रुचि यदि पर में हो गई तो विकार की क्रमबद्ध अवस्था होती है, इसमें दूसरा क्या कर सकता है ?

स्वयं अपनी अवस्था से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं है। कर्म कारण हो और आत्मा कार्य हो, सो बात नहीं है किन्तु स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य है।

जड़ में भी क्रमबद्ध पर्याय होती है। जैसे मिट्टी में से घड़ा करने की जो पर्याय होती है, वह क्रमबद्ध होती है, उसमें कुम्हार कुछ नहीं कर सकता; इसलिये अजीव का कर्ता जीव नहीं है किन्तु अजीव अपनी अवस्था से एक के बाद दूसरा उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।

जिसे ऐसी प्रतीति हो गई है कि अपनी अवस्था क्रमशः होती है, उसके यह भाव दूर हो जाता है कि पर मेरा कुछ कर देता है। उसकी पराधीनता की ऐसी दृष्टि दूर हो जाती है कि अनंत जीव और अनंत जड़ मेरा कुछ कर सकते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म बात है, यह कर्ता-कर्म का महान सिद्धांत है।

वस्तु में पर्याय एक के बाद दूसरी क्रमशः होती है, उसका कर्ता अन्य कोई नहीं; स्वयं ही है। बंध के समय मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के समय बंध नहीं होता। वे पर्यायें एक के बाद दूसरी होती है किन्तु दोनों एक साथ नहीं होती। वस्तु तो निश्चित एकरूप है, उसमें एक के बाद दूसरी का क्रम नहीं बनता, इसलिये वस्तु अक्रम है, और पर्याय क्रमरूप है।

केवलज्ञान की पर्याय पहले आ जाय और सम्यग्दर्शन की पर्याय बाद में आ जाय, ऐसी उल्टी सीधी पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु सम्यग्दर्शन पहले होता है और केवलज्ञान उसके बाद ही होता है, इस प्रकार क्रमशः पर्याय प्रगट होती है, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना और पुरुषार्थ का प्रारंभ किये बिना मोक्षमार्ग की ओर की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती और मोक्ष की भी क्रमबद्धपर्याय नहीं होती।

जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं है, वह पुरुषार्थ को अपने आप प्रारंभ नहीं करता और इसीलिये इसे बिना पुरुषार्थ के सम्यग्दर्शन नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं होता। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उसके निर्मल क्रमबद्धपर्याय नहीं होती किन्तु विकारी क्रमबद्धपर्याय हुआ करेगी।

जो अवस्था जिस वस्तु में से होती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मुक्ति होती है। परद्रव्य

मेरी अवस्था को कर देगा, ऐसी दृष्टि टूट जाने से वस्तु पर दृष्टि रखने से राग नहीं होता। वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है, ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता छूटकर स्थिर होकर अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है, इसमें अनंत पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप दृष्टि करने से और उस दृष्टि के द्वारा स्वरूप में रमण करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। वह शुद्ध क्रमबद्धपर्याय बिना प्रयत्न के नहीं होती।

अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसमें भी चैतन्य के वीर्य की उग्रता कारण है। परंतु अंतर्मुहूर्त में भी समस्त पर्यायें क्रमशः ही होती हैं। कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी नहीं होती। पहले होनेवाली पर्याय पीछे हो और पीछे होनेवाली पर्याय पहले हो, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे पहले केवलज्ञान हो जाय और बाद में वीतरागता हो, यह नहीं बन सकता। परंतु जो पर्याय जैसी होना होती है, वैसी ही होती है और फिर समस्त पर्यायें एक साथ भी नहीं होती। सम्यक्दर्शन की पर्याय और केवलज्ञान की पर्याय के बीच अंतर्मुहूर्त का अंतर होता ही है परंतु अंतर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान हुआ, वह किसी ने कर नहीं दिया और यह बात भी नहीं है कि स्वतः काललब्धि के पाक से वह हो गया है, किन्तु वह चैतन्य के उग्र पुरुषार्थ का कार्य है।

चैतन्य के एक क्षण के पुरुषार्थ की उग्रता में पांचों समवाय आ जाते हैं। (१) वस्तु पर जो यथार्थ दृष्टि हुई, वह पुरुषार्थ के द्वारा ही हैं एक तो वह पुरुषार्थ। (२) उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव था, वह पर्याय प्रगट हुई, वह स्वभाव। (३) जिस समय पुरुषार्थ के जोर से पर्याय प्रगट हुई, वह स्वकाल अर्थात् वह काल। (४) पुरुषार्थ के द्वारा जो पर्याय होना थी, वह हो गई वह नियत। (५) स्वभाव पर्याय के प्रगट होते समय जो कर्म का अभाव हुआ, वह कर्म। इनमें से चार समवाय अस्तिरूप में अपने में आ जाते हैं और अंतिम जो कर्म का अभाव है, वह नास्ति परिणमन के रूप में अपने में आ जाता है; इसमें सभी सिद्धांतों का समावेश हो जाता है।

वस्तु की पर्याय के प्रगट होने में पाँच कारण होते हैं, उनमें सबमें पुरुषार्थ मुख्य है। जैसी वीर्य की उग्रता या मंदता होती है, उसी के अनुसार कार्य होता है।

जो पुरुषार्थ करता है, उसे अन्य चारों कारण भी मिल जाते हैं। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उसे एक भी कारण लागू नहीं होता।

पहले सम्यग्दर्शन के होने में अनंत पुरुषार्थ है, सम्यग्दर्शन के होते ही मानों अनंत संसार कट गया। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अनंत पराक्रम प्रगट हो गया। जो द्रव्यदृष्टि है, वह सम्यग्दृष्टि

है। वस्तुदृष्टि के बल से अवश्य वीतराग हो जायगा, अवश्य केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। वस्तुदृष्टि के बल से प्रयत्न के द्वारा स्थिर होता है और उसके बाद वीतराग होता है।

वस्तु की पर्याय का आधार द्रव्य है, उसमें पर का आधार नहीं है। जहाँ ऐसी दृष्टि हो गई, वहाँ जहाँ से पर्याय होती है, वहाँ देखना होता है। पर के द्वारा मेरी पर्याय होती है; इस प्रकार के राग का विकल्प दूर हो जाता है, वीतरागदृष्टि हो जाती है। अनंत पर्यायों का पिंड परिपूर्ण द्रव्य मौजूद है, उस पर दृष्टि जाते ही विकार की दृष्टि दूर हो जाती है। पराश्रय दृष्टि के दूर होते ही भीतर जो क्रमबद्धपर्याय से परिपूर्ण द्रव्य है, उस पर दृष्टि जमाते ही पुरुषार्थ के द्वारा क्रमबद्धपर्याय प्रगट हो जाती है। उग्रवीर्य अथवा मंदवीर्य के कारण से जिस समय जो पर्याय हुई, उसका वह सुकाल है। अन्य कोई काल चैतन्य को नहीं रोकता। कहा जा सकता है कि कोई उग्र पुरुषार्थ करता है और कोई मंद पुरुषार्थ करता है, इसका क्या कारण है ? उसका कारण चैतन्य का अपना कारण है। उग्र अथवा मंद पुरुषार्थ के लिये स्वयं परिणमित हुआ है। पुरुषार्थ को उग्र अथवा मंद करने के लिये चैतन्य स्वयं स्वतंत्र हैं। मुझमें न तो कर्म कारण है, न पर कारण है और न काल ही कारण है। अकारण पारिणामिक द्रव्य के लिये किसी का भी कारण लागू नहीं होता। कर्म तो निमित्तमात्र है; स्वयं अकारण पारिणामिक द्रव्य है, उसमें किसी का कारण काम नहीं लगता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं रोकता। यदि रोके तो द्रव्य पराधीन हो जाय।

द्रव्य में अनंत गुण हैं और उसकी जो अनंत पर्याय है, वह प्रति समय क्रमबद्ध होती है, उस द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा, पुरुषार्थ के द्वारा होती है। वैसी श्रद्धा और ज्ञान के होने पर पुरुषार्थ स्वभाव की ओर झुका और पराश्रय दूर हो गया। कर्म का, काल का, गुरु का, देव का, और पुस्तक का आश्रय दृष्टि में से छूट गया और मेरी अवस्था मुझमें मेरे कारण से होती है, यह प्रतीति हो गई। आत्मा में पर्याय एक के बाद दूसरी निज में से होती है, ऐसी प्रतीति होने पर, परद्रव्य का आश्रय दूर हुआ और वही पुरुषार्थ हुआ, उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव प्रगट हुआ, वह स्वभाव इत्यादि पांचों समवाय एक पुरुषार्थ के करने पर आ जाते हैं।

अपने द्रव्य में सभी अवस्थायें क्रमशः होती हैं, उल्टी सीधी नहीं होती; इस प्रकार की प्रतीति होने पर, मित्र और शत्रु का पराश्रय दूर हो जाता है। वस्तु पर दृष्टि जाते ही अनंत पराक्रम विकसित होता है। जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है, वह वस्तु में और पर्याय में कोई भेद नहीं देखता। वस्तु और वस्तु की पर्याय के बीच भेद का कोई विकल्प नहीं रहता। वस्तु पर दृष्टि जाने पर मुक्ति कब

होगी, ऐसी आकुलता या खेद का विकल्प दूर हो जाता है। विकल्प के दूर हो जाने पर, द्रव्य और पर्याय के बीच वह कोई भेद नहीं देखता, उसमें ज्ञाता-दृष्टा का अनंत पराक्रम आ जाता है। वह ज्ञाता-दृष्टा के बल से स्वरूप में स्थिर होकर मुक्ति की पर्याय को प्राप्त करेगा।

मोक्ष की पर्याय और मोक्ष के मार्ग में पराश्रयता नहीं है। मुझमें जो अवस्था होती है, वह क्रमशः होती है; इस प्रकार की पराश्रयदृष्टि दूर हुई और स्वाश्रयदृष्टि आई, वह अनंत पुरुषार्थ हुआ। वस्तु के ऊपर दृष्टि जाने पर मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्याय में भेद अथवा विकल्प नहीं रहता, इसमें अनंत पराक्रम है।

भगवान आत्मा में अनंत गुण भरे हुये हैं, उसमें प्रत्येक समय में अवस्था क्रमशः, क्रमवार, क्रमबद्ध होती है, उस अवस्था को शरीर अथवा पर इत्यादि कोई नहीं करता, ऐसी स्वाश्रयदृष्टि हुई और पराधीनदृष्टि दूर हुई कि अनंत पुरुषार्थ आ गया। द्रव्य पर दृष्टि जाते ही आकुलता का विकल्प टूट जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के तेज से स्थिर होकर मोक्षपर्याय को पाता है। द्रव्य पर दृष्टि है अर्थात् उसके बल से मुक्ति की पर्याय झट प्राप्त हो जाती है। आकुलता का विकल्प टूटते ही झट मुक्ति की पर्याय मिल जाती है, वह एक दो भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा।

अज्ञानी के विपरीतदृष्टि है, वहाँ भी उसकी पर्याय क्रमशः होती है। जो इस बात को समझ लेता है, उसके विपरीतता नहीं रहती। जहाँ यथार्थ समझ प्राप्त हुई, वहाँ इसने यह किया और उसने वह किया इत्यादि दूसरे का दोष ढूंढ निकालना मिट जाता है। वस्तु की ओर देखने से ज्ञात होगा कि वस्तु में राग-द्वेष नहीं है किन्तु जो नया-नया राग द्वेष होता है, वह अपने विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा होता है, उसमें दूसरे का कोई दोष नहीं है। जीव की क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने पर जड़ की भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हो जाती है।

अब जड़ की क्रमबद्धपर्याय कही जाती है। शरीर में जब रोग आना होता है, तब आता है, शरीर में जब जब रोग आता है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था के अनुसार ही आता है, उसे बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

मकान जिस ढंग से बनना होता है, उसी ढंग से बनता जाता है। एक मंजिल के बाद दूसरी मंजिल और उसके बाद तीसरी मंजिल जैसे क्रमसर होनेवाली है, वैसे ही बनती है और उसके बाद उसमें यदि संगमरमर बिछनेवाला होता है तो वह बिछता है और यदि कांच लगने का होता है तो वह लगता है। उसकी अवस्था जैसी होनी होती है, वैसी क्रमशः होती है।

दूध में क्रमशः खटाश आने का अवसर था, तब वह उसके कारण से होती है। कोई उसमें खटाश कर नहीं देता। छाछ इत्यादि के कारण खटाई हो गई, सो बात नहीं है किन्तु उस समय दूध में दही की अवस्था क्रमशः होनी थी, इसलिये उसे वैसा निमित्त मिल जाता है। प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र कार्य कर रहा है। एक परमाणु को दूसरा परमाणु परिणमन नहीं करा सकता, इस प्रकार यहाँ स्वतंत्रता की घोषणा की गई है।

उपादानदृष्टि यथार्थ दृष्टि है, एक वस्तु स्वतंत्र है, उसमें दूसरा क्या कर सकता है, मिट्टी से घड़ा बनता है, उसमें क्रमपूर्वक मिट्टी में से पर्याय आती है। क्रमपूर्वक जब घड़े की पर्याय होने का समय आता है, तब कुम्हार के होने पर मिट्टी में से जो क्रमबद्धपर्याय होती है, वह उसकी मिट्टी के अपने कारण से होती है, कुंभकार के कारण नहीं।

प्रश्न—कोई कहता है कि यदि कुम्हार उपस्थित न हो तो ?

उत्तर— घड़ा न बनना हो और मिट्टी का पिंड ही रहना हो तो वह भी क्रमशः ही है, उस क्रम को तोड़ने के लिये अज्ञानी, ज्ञानी अथवा तीर्थंकर कोई भी समर्थ नहीं है।

जब कोई आकस्मिक दुर्घटना होती है, तब लोग यह विचार करते हैं कि यह घटना कैसे हो गई ? किन्तु सच बात तो यह है कि कुछ भी आकस्मिक तो होता ही नहीं है, वह अपनी क्रमबद्ध अवस्था के नियमानुसार ही होता है। जो इस प्रकार वस्तु के नियम को समझता है, उसे वीतरागदृष्टि हुये बिना नहीं रह सकती। जो वीतरागस्वभाव को समझ लेता है, उसे वीतरागता का कार्य आये बिना नहीं रहता।

मैं पर का कुछ नहीं कर सकता और पर मेरा कुछ नहीं कर सकता। सभी आत्मा की और जड़ की एक के बाद दूसरी क्रमशः अवस्था होती है, इसमें मैं क्या करूँ ? इसके समझते ही तत्काल शांति होती है। यहाँ तो यह कहना है कि पर के ऊपर का झुकाव छोड़ दे; क्योंकि जिसकी दृष्टि जहाँ होती है, वहीं उसकी ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। दूसरे का कर्तृत्व छोड़ने पर अनंत पुरुषार्थ आ जाता है। ★

अनेकांत धर्म का स्वरूप

(पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान)

[इस लेख (जिसका प्रथम अनुवाद एक गुजराती भाई ने किया था) गत वर्ष के चौथे अंक में छप गया है किंतु उसकी भाषा-शैली इत्यादि ठीक नहीं बन पाई थी, इसलिये उसका ठीक अनुवाद यहाँ दिया जाता है, पुनर्मुद्रण के लिये कृपालु ग्राहक क्षमा करें। —प्रकाशक]

शार्दूलविक्रीड़ित

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः।
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं है, यही अनेकांत है। आत्मा, पर स्वरूप से नहीं है, और पर, आत्मा के स्वरूप से नहीं है। दोनों वस्तुएँ अनादि-अनंत पृथक् हैं। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के आश्रित मानना ही संसार का कारण है तथा पृथक् वस्तु को पृथक् मानकर आत्मा में एकाग्र होना, सो मोक्ष का कारण है। प्रत्येक वस्तु और उसके गुण-पर्याय अपनी अपेक्षा से है और पर से अभावस्वरूप हैं। पर का परत्व दृष्टि से अस्तित्व है और आत्मा की दृष्टि से अभाव है, इस प्रकार आत्मा, आत्मा की दृष्टि से है, पर की दृष्टि से नहीं। जिस रूप में स्वयं नहीं है, उस रूप में अपने को माने तो वह एकांतवादी है। आचार्यदेव ने इस कलश में एकांतवादी को पशु अर्थात् ढोर कहा है, वे चौरासी में चक्कर लगाते हैं।

अनेकांत के इन चौदह बोलों में जैनदर्शन का रहस्य निहित है। वस्तु का अस्ति-नास्ति स्वतंत्र स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है। जो एक वस्तु में दूसरी वस्तु को किसी रूप में सहायक मानता है, वह एकांतवादी है अर्थात् जैनदर्शन का घातक है।

कुनय की वासना से वासित हुआ एकांतवादी अज्ञानी मानता है कि 'शारीरादिक ठीक रहे, रुपये पैसे की अनुकूलता हो, कुटुम्बादि अनुकूल हो तो धर्म हो' जिसने ऐसा मान लिया उसने आत्मा के धर्म को पर के आधीन माना है अर्थात् आत्मा को और परवस्तु को एक माना है। यहां आचार्यदेव ने उसे पशु कहा है।

आत्मा, पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है और पर, आत्मा की अपेक्षा से नास्तिरूप है, इस प्रकार अनेकांत को न मानकर जो परवस्तु में अपने आत्मा के अस्तित्व को मानता है—आत्मा के स्वभाव को पर के आश्रित मानता है और परद्रव्य में निजत्व के भ्रम से परद्रव्यों में लक्ष्य करके उलझ जाता है। ऐसा स्व-पर की खिचड़ी बनानेवाला जीव एकांतवादी पशु है, यही बात इस कलश में कही गई है।

जो यह मानता है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से सहायता मिलती है वह समस्त द्रव्यों में एकत्व को मानता है। जो परवस्तु से अपने में कोई भी गुण या दोष मानता है, वह मूढ़ है। परवस्तु चाहे जैसी हो किन्तु वह मुझे लाभ या अलाभ करने में समर्थ नहीं है। जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है और जो परवस्तु की अनुकूलता से अपने को लाभ मानकर पर में फँस गया है, वह मूढ़ पशु के समान है, यही आचार्यदेव ने कहा है।

परवस्तु आत्मा के आधीन नहीं है और आत्मा परवस्तु के आधीन नहीं है, इसलिये परवस्तु से आत्मा को कोई भी हानि-लाभ नहीं है। मेरा स्वभाव मुझमें मेरे द्वारा ही है, जिसे ऐसी श्रद्धा नहीं बैठती, वह परवस्तु में आत्मा के धर्म को मानकर—अपना स्वभाव पराश्रित है यों मानकर परद्रव्य में निजत्व मानता है, वह एकांतवादी है। अनेकांतवादी ज्ञानी जानता है कि—मेरे स्वभाव में पर नहीं है और परवस्तु में मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थिति में जिस वस्तु का अभाव है वह 'अभाव वस्तु' किसी को लाभ या हानि नहीं कर सकती। यदि 'अभाव वस्तु' से किसी को कुछ होने लगे तो 'खरगोश का सींग लगने से अमुक आदमी मर गया' यह बात भी माननी होगी।

मेरे आत्मा में कर्म नहीं है और कर्म में मैं नहीं हूँ। शरीर में आत्मा नहीं है और आत्मा में शरीर नहीं है, दोनों वस्तुऐं भिन्न हैं, दोनों का एक-दूसरे में अभाव है। यों जाननेवाला अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त वस्तु की अपेक्षा से पर का अभाव मानता है। इसलिये वह परवस्तु से कोई लाभ-हानि नहीं मानता, किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक-दूसरे में नास्तित्व है; इसलिये मेरा स्वभाव मुझ से ही है। जो यह मानता है और जिसका शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है, ऐसे स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनंत पृथक् रहकर सब अपनी अपनी अवस्था में कार्य कर रहे हैं। कोई किसी के लिये सहायक नहीं होता, यह जाननेवाला धर्मात्मा पर द्रव्य का आश्रय क्यों लेगा?

भावार्थ : मैं पररूप से नहीं हूँ, निजरूप ही हूँ। यह न माननेवाला पशु समान एकांतवादी

आत्मा को समस्त परद्रव्यरूप में मानता हैं, उसे अपने भिन्न स्वभाव की खबर नहीं है। भिन्नत्व की श्रद्धा, भिन्नत्व का ज्ञान और भिन्नत्व की स्थिरता के बिना पृथक् (मुक्त) नहीं हुआ जा सकता। जो वस्तु मुझमें है ही नहीं, वह मेरे लिये क्या कर सकती है ? मुझमें अभावरूप वस्तु कोई भी कार्य मेरे में कर ही नहीं सकती और आत्मा पर में अभावरूप है, इसलिये वह पर में कुछ भी नहीं कर सकता और परवस्तु आत्मा का कुछ नहीं कर सकती। कर्म, आत्मा से पर वस्तु हैं, इसलिये वह आत्मा को हैरान नहीं कर सकते।

यह अनेकांत जैनदर्शन की जड़ है। यह सिद्धांत अनादिकाल से जगत के (संसारी जीव के) ध्यान में नहीं आया। आत्मा में पर का अभाव है और पर में आत्मा का अभाव है। प्रत्येक वस्तु स्व से अस्ति और पर से नास्तिरूप है, इसे न माननेवाला एकांतवादी है, उसे पर से पृथक् स्वरूप की खबर नहीं है।

स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है—यह कहने पर दूसरी वस्तु की भी सिद्धि हो जाती है। यदि सब मिलकर एक ही वस्तु हो तो एक में विकार न हो क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है। यदि अकेली वस्तु में विकार हो तो विकार स्वभाव हो जाय, इसलिये विकार के समय दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है, उसका लक्ष्य करके आत्मा स्वयं निज में विकार करता है। प्रत्येक वस्तुएँ हैं किन्तु सब अपनी अपेक्षा से ही हैं। कोई वस्तु परापेक्षा से नहीं है। एक वस्तु को 'स्व अपेक्षा से है' यह कहते ही 'पर अपेक्षा से नहीं है' इस प्रकार अनेकांत स्वयंमेव प्रकाशित करता है। वस्तु स्व अपेक्षा से है, यह कहते ही उसमें पर का अभाव आ जाता है। जिसका स्व में अभाव है, वह वस्तु स्व को लाभ या अलाभ नहीं कर सकती; शरीर की किसी भी चेष्टा से आत्मा को लाभ या हानि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा की अपेक्षा से शरीर, आत्मा में अभाव वस्तु है, इसी प्रकार आत्मा की इच्छा से शरीर की अवस्था नहीं होती; क्योंकि शरीर में इच्छा का अभाव है। जिसे इस अनेकांत की खबर नहीं है, उसे आचार्यदेव ने पशु कहा है।

आत्मा, शरीर का कुछ भी करने की इच्छा भले करे किन्तु उस इच्छा का शरीर में अभाव है, इसलिये जो इच्छा, शरीर में अभावरूप है, वह शरीर का क्या कर सकती है ? इच्छा राग है, उसका आत्मा की अवस्था में सद्भाव है किन्तु शरीर में तो राग का अभाव है और जो अभाव है, वह क्या कर सकता है ? उसी प्रकार इच्छा में शरीर का, कर्म का अभाव है, इसलिये शरीर अथवा कर्म, इच्छा में क्या कर सकते हैं ? अर्थात् शरीर या कर्म इच्छा नहीं कराते, इच्छा में कर्म की नास्ति है,

तब कर्म इच्छा के लिये क्या कर सकते हैं ? कर्म निमित्त हैं और निमित्त का इच्छा में अभाव है, इसलिये कर्म के कारण से इच्छा नहीं है।

पर का इच्छा में अभाव है और इच्छा का पर में अभाव है। इच्छा आत्मा की विकारी क्षणिक अवस्था है, उसमें कर्म का अभाव है, तब कर्म इस में क्या कर सकता है ? इस प्रकार अनेकांत को जाननेवाला ज्ञानी सर्व पर से अपना नास्तित्व मानकर स्वद्रव्य में रहता है।

अब परद्रव्य के विषय को छोड़कर भीतर आइये। अब रही इच्छा, सो इच्छा आत्मा में होनेवाली विकारी क्षणिक अवस्था है, उस क्षणिकता के बराबर आत्मा नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव की अपेक्षा में क्षणिक इच्छा का अभाव है और इच्छा में त्रैकालिक स्वभाव का अभाव है। इस प्रकार न तो स्वभाव में इच्छा है और न इच्छा में स्वभाव ही। जो क्षणिक इच्छा होती है, उसे अपनी मानना ही संसार है। वस्तु दृष्टि से विकार का अभाव है, इसलिये वस्तु दृष्टि में संसार नहीं है। मात्र 'इच्छा मेरी' ऐसी दृष्टि की विपरीत मान्यता में संसार है।

प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं है। यदि वस्तु पर की अपेक्षा से भी अस्तिरूप हो तो दो वस्तुएँ एक हो जायँ किन्तु दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, इसलिये एक की दूसरे में नास्ति है। देव गुरु और शास्त्र भी पर हैं, उनका मुझमें अभाव है, वह अभाव वस्तु के आधार से (देव, गुरु, शास्त्र के आधार से) मेरा धर्म नहीं है। मेरा स्वभाव मेरे रूप में है और मेरे धर्म का संबंध मेरे ही साथ है। इस प्रकार पर से भिन्न अपने स्वभाव के आश्रित ही धर्म है।

पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं ? यदि धर्म करना है तो 'पर के आधीन मेरा धर्म नहीं है' ऐसी श्रद्धा के द्वारा पराश्रय को दूर हटा। पर से जो-जो अपने में होता हुआ माना है, उस मान्यता को सच्ची प्रतीति के द्वारा समाप्त कर डाल। 'मेरा स्वभाव मुझमें है, वह कभी पर में नहीं गया' ऐसी श्रद्धा करके स्वभाव में ही स्थिर हो, यही धर्म है।

जगत की अपेक्षा से आत्मा असत् है, आत्मा की अपेक्षा से जगत् असत है, किन्तु आत्मा की अपेक्षा से आत्मा और जगत की अपेक्षा से जगत दोनों ही सत् हैं। इस प्रकार अपने स्वरूप को पर से असत् और स्व से सत् जानकर ज्ञानी स्वद्रव्य में विश्राम करता है, तब अपने स्वरूप को पररूप में माननेवाले अज्ञानी को कहीं भी विश्राम स्थान नहीं है।

इस प्रकार कलश २५३ में परद्रव्य से असत्‌रूप का भंग कहा है।

अब कलश २५४ में स्वक्षेत्र से अस्तित्व का भंग कहते हैं:—

शार्दूलविक्रीडित

भिन्न क्षेत्रनिषण्ण बोध्य नियत व्यापार निष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्म निखात बोध्यनियत व्यापारशक्तिर्भवन्॥

प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक है, फिर भी एकांतवादी वस्तु के एक ही पहलू को मानकर दूसरे पहलू को नहीं देखता। वह एक अपेक्षा को पकड़कर उतनी ही वस्तु को मानता है, वह वस्तुस्वरूप से अज्ञात है। एक कथा है कि जिनने कभी हाथी नहीं देखा था, ऐसे चार जन्मांध यह निश्चय करने बैठे कि हाथी कैसा होता है। उनमें से एक के हाथ में हाथी पूंछ आई, वह उस पूंछ को ही हाथी मानकर बोला कि 'हाथी रस्से के समान है।' दूसरे के हाथ में हाथी का पैर आया, उसने उसी को हाथी मानकर कहा कि 'हाथी खंभे के समान है।' तीसरे के हाथ में हाथी का कान आया, वह उसी को हाथी मानकर बोला कि 'हाथी सूपा के समान है।' चौथे के हाथ में हाथी की सूंड आई, वह उसी को हाथ मानकर बोला कि 'हाथी मूसल जैसा है।' इस प्रकार हाथी के स्वरूप से अजान वे चारों अंधे हाथी के एक-एक अंग को ही सारा हाथी मान बैठे। इसी प्रकार आत्मस्वरूप से अजान अज्ञानी जीव एक अपेक्षा को ही सारी वस्तु का स्वरूप मान बैठता है। जैसे वस्तु परापेक्षा से नास्तिरूप है, यह कहते पर वह अपनी अपेक्षा से ही नास्तिरूप मान बैठता है। और स्व अपेक्षा से है, यह कहने पर परापेक्षा भी है, यह मान बैठता है। पर की स्व अपेक्षा से नास्ति है, यह कहने पर, पर की सर्वथा नास्ति मान बैठता है अथवा एक वस्तु उस अपेक्षा से है, यह कहने पर अपने में भी पर की अस्ति मान बैठता है। इस प्रकार वह एक अपेक्षा को पकड़कर उसी प्रकार सारी वस्तु के स्वरूप को मान बैठता है। वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अजान है, एकांतवादी है, आचार्य ने उसे इस कलश में पशु कहा है।

आत्मा सदा अपने असंख्य प्रदेश से ही है। सर्वथा एकांतवादी, परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेय पदार्थों का आत्मा मात्र ज्ञाता है फिर भी 'यह पर क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार पर क्षेत्रों को स्व क्षेत्र मानकर अपना नाश करता है। शरीरादि पर ज्ञेयों के रूप में अपने को मानकर अज्ञानी परलक्ष्य में प्रवृत्ति करता है, अपने ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होती है, वहाँ यह मानकर कि 'मेरा अस्तित्व मानों पर में गया है' परद्रव्य की ओर के लक्ष्य में पड़कर अपना नाश

करता है किन्तु आत्मा में परवस्तु का आकार निहित नहीं है और न आत्मा का आकार पर में निहित है। आत्मा तो सदा स्व क्षेत्र में ही है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है।

पहले २५३ वें कलश में द्रव्य की बात थी और इसमें क्षेत्र की बात है। परक्षेत्र के आकार को जानने का आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान में पर क्षेत्र ज्ञात होता है, उस पर क्षेत्र को अपना मानकर पर-गत रहता हुआ भी अपने को पररूप मानकर एकांतवादी आत्मस्वरूप का नाश करता है।

आत्मा नित्य असंख्य प्रदेशी है, उसके एक एक प्रदेश में अनंत गुण हैं। उसका क्षेत्र अपने में ही है। भाई! तेरा क्षेत्र तुझमें ही है, तेरा क्षेत्र असंख्य प्रदेशाकार है, इस प्रकार पृथक् न मानकर जो पर क्षेत्र में एकत्व मानता है, उसे आचार्य भगवान ने इस कलश में एकांतवादी पशु कहा है।

स्याद्वाद को जाननेवाला ज्ञानी स्वक्षेत्र में अपना अस्तित्व जानता है, इसलिये पर क्षेत्र में अपनेपन की मान्यता नहीं है। इतना पर की ओर का वेग तो रुक ही गया है। स्व क्षेत्र में असंख्य प्रदेशों का पिंड हूँ, इस प्रकार मानता हुआ ज्ञानी स्वक्षेत्र में रहता हुआ भी आत्मा में ही आकाररूप प्राप्त परज्ञेयों के साथ एकत्व को नहीं मानता। किन्तु यह जानकर कि मेरे ज्ञान में ही पर को जानने की शक्ति है, स्वद्रव्य में ही रहता है। परवस्तु मेरे ज्ञान में ज्ञेय है। जो परवस्तु है सो मैं नहीं हूँ किन्तु मेरा जो ज्ञान है मैं वही हूँ। इस प्रकार अपने ज्ञान का निश्चय व्यापाररूप शक्तिवान होकर निजद्रव्य में स्थिर होकर अपने को जीवित रखता है, स्वरूप में ही रहता है।

वीतराग होने से पूर्व शुभराग आता है और शुभराग के निमित्त देव इत्यादि भी होते हैं किन्तु वे राग अथवा राग के निमित्त मेरे नहीं हैं। मैं पर क्षेत्र से भिन्न हूँ, मेरा धर्म मेरे क्षेत्र में ही है, इस प्रकार नहीं माननेवाले अज्ञानी जीव, स्वभाव को पररूप मानकर अपना नाश करते हैं और ऐसा जाननेवाले ज्ञानी पररूप में न मानकर निज रूप में ही अपने को स्थिर करके नष्ट नहीं होने देते।

प्रभु! तेरा क्षेत्र तेरे ही पास है, पर क्षेत्र तुझसे भिन्न है, परक्षेत्र को जानने का तेरा स्वभाव है, किन्तु कोई पर तुझमें आ नहीं जाता तथा तेरा क्षेत्र किसी परवस्तु में नहीं जाता। आत्मा आत्मा के ही क्षेत्र में है, अज्ञानी परक्षेत्र में अपना अस्तित्व मानकर अपना नाश करते हैं; ज्ञानी स्व क्षेत्र में पर की नास्ति मानकर स्व में स्थिर रहते हैं। इस प्रकार अनेकांत उस वस्तु का स्वरूप है। जो ऐसे तत्त्व के स्वरूप को नहीं समझता, उसे निगोद में जाना होगा और जो इसे समझ लेगा वह त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान होगा। मुख्य गति सिद्ध है या निगोद है। शुद्ध निश्चयगति सिद्ध है और अशुद्ध निश्चयगति निगोद है। बीच की चार गतियाँ व्यवहार हैं, उनका काल अल्प है।

शार्दूलविक्रीडित

स्वक्षेत्र स्थितये पृथग्विध परक्षेत्र स्थितार्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥२५५॥

ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिये जहाँ परवस्तु ज्ञात होती है, वहाँ अज्ञानी 'मानों परवस्तु ज्ञान में घुस गई हो' इस प्रकार के भ्रम से यह मानता है कि ज्ञान में जो परवस्तु का आकार ज्ञात होता है, उसे निकाल दूँ अर्थात् ज्ञान की अवस्था को निकाल दूँ तो अकेला ज्ञान रह जायेगा और इस प्रकार वह तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है। अज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान में घर, स्त्री, पुत्र आदि याद आते हैं, इसलिये मुझे राग हुये बिना नहीं रहता; किन्तु यह बात बिल्कुल गलत है। घर को जानना राग का कारण नहीं है किन्तु घर की ओर जो ममत्व भाव है, वह राग का कारण है, इसलिये घर इत्यादि का ज्ञान भले हो; किन्तु 'यह घर मेरा है' ऐसी मान्यता को भूल जाना है। तू ज्ञान को कैसे भूलेगा।

भाई! जानना तो तेरा स्वभाव है, उसमें परवस्तु सहज ज्ञात होती है। परवस्तु को भूल नहीं जाना है किन्तु 'पर मेरे हैं' इस मान्यता को निकाल दे। पर का ज्ञान, राग-द्वेष का कारण नहीं है किन्तु पर मेरे हैं, यह मान्यता ही राग-द्वेष का कारण है, उस मान्यता को ही बदलना है। उस की जगह अज्ञानी परवस्तु को जाननेरूप अपने ज्ञान की अवस्था को निकाल देना चाहता है, किन्तु वह निकलेगा किसे? भाई! ज्ञान तो तेरा स्वभाव है, क्षण क्षण में उसकी अवस्था बदलती रहती है और उस ज्ञान की अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है कि जहाँ पर पदार्थ ज्ञात होता है, वहाँ अज्ञानी मानता है कि मैं परवस्तु के ज्ञान को ही भूल जाऊँ अर्थात् अपने ज्ञान को ही निकाल दूँ; इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ से मेरे ज्ञान की अवस्था भिन्न है, यह मानकर अज्ञानी जीव ज्ञान की अवस्था को छोड़ना चाहता है, तब अनेकांत धर्म को जाननेवाला ज्ञानी जानता है कि पर पदार्थ को जानते हुये भी मेरे ज्ञान की अवस्था उससे भिन्न है, मेरे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ घुस नहीं जाते; इस प्रकार पर से नास्तित्व को जानता हुआ परवस्तु से अपने को खींचकर स्व क्षेत्र में रहता हुआ राग-द्वेष को छोड़कर स्वक्षेत्र में ही ज्ञान को एकाग्र करता है।

पर क्षेत्र ज्ञात होता है, सो वह तो मेरे ज्ञानस्वरूप की सामर्थ्य है। जानना, सो मेरा स्वरूप है।

पर क्षेत्र मेरा स्वरूप नहीं है, यह जानता हुआ ज्ञानी ज्ञान में परपदार्थ ज्ञात हों, फिर भी ज्ञान को तुच्छ नहीं मानता किन्तु ज्ञान की सामर्थ्य मानता है और फिर ज्ञानी को यह निश्चय है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव तो एक समय की एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक को जानना है, ज्ञान का स्वरूप ही जानना है, जानने के कारण से राग नहीं है, किन्तु 'मैं पर में हूँ' अथवा 'पर मुझमें है' इस प्रकार की मान्यता ही राग-द्वेष का कारण है। अज्ञानी स्व-पर की खिचड़ी बनाकर राग-द्वेष किया करता है।

पर क्षेत्रागत ज्ञेय पदार्थों के आकार की ज्ञान की अवस्था होती है किन्तु 'यदि उस अवस्था को मैं अपनी मानूंगा तो स्वक्षेत्र में ही रहने की जगह मैं परक्षेत्र में चला जाऊँगा' इस प्रकार मानकर अनेकांत को नहीं जाननेवाला अज्ञानी, परवस्तु के साथ ही साथ अपने ज्ञान की अवस्था को छोड़ देता है और इस प्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों-ज्ञान की अवस्था से रहित तुच्छ होकर नष्ट हो जाता है और स्याद्वाद का ज्ञाता-ज्ञानी पर क्षेत्र में ज्ञान की नास्ति को जानता हुआ ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी अपने ज्ञान की अवस्था को नहीं छोड़ता, इसलिये वह तुच्छ नहीं होता; किन्तु अपने क्षेत्र में ही स्थित रहता है। वह जानता है कि पर को जानना मेरा स्वभाव है, मैं पर में नहीं हूँ और पर को जाननेरूप अपने ज्ञान की अवस्था से मैं भिन्न नहीं हूँ। जो अवस्था है, सो वह मेरा ज्ञान ही है, यह जानकर वह स्वभाव में ही स्थिर रहता है; इस प्रकार जानकर स्वभाव में स्थिर होना ही धर्म है॥२५५॥

शार्दूलविक्रीड़ित

पूर्वालंबित बोध्य नाश समये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निज कालतोऽस्य कलयन् स्याद्वाद वेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठपि बाह्य वस्तुषु मुहुर्मूत्वा विनश्यत्स्वपि॥२५६॥

यहाँ अनेकांत की बात चल रही है। आत्मा, देह से भिन्न तत्व है। देह और आत्मा एक नहीं किन्तु भिन्न वस्तु हैं। आत्मा से देह, मन, वाणी, कर्म तथा पर आत्मा त्रिकाल भिन्न है। प्रत्येक आत्मा का तत्त्व भिन्न है, जड़ भी भिन्न वस्तु है। प्रत्येक वस्तु भिन्न है और भिन्न वस्तु की शक्ति भी भिन्न ही है और प्रत्येक की अवस्था भी भिन्न-भिन्न है। आत्मा की अवस्था आत्मा में होती है, शरीर की अवस्था शरीर में होती है। देह और आत्मा एक क्षेत्र में होने पर भी दोनों की अवस्था निज निज

से भिन्न होती है। इसे नहीं जानने वाला एकांतवादी-अज्ञानी अपने ज्ञान को देह के आधार से मानता है। अर्थात् जब तक देह रहेगी, तब तक मैं रहूँगा, और देह के नाश होने पर मैं भी उसके साथ नष्ट हो जाऊँगा, इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ से भिन्न ऐसे अपने ज्ञान के अस्तित्व को नहीं जानता हुआ अत्यंत तुच्छ होकर नष्ट हो जाता है; किंतु ज्ञेय की अवस्थाओं के नाश होने पर ज्ञान की अवस्थायें नष्ट नहीं होती। आत्मा देह से भिन्न वस्तु है उसमें ज्ञानदर्शन अस्तित्व इत्यादि गुण हैं, उनकी समय समय पर अवस्थायें होती रहती हैं। शरीर जड़ रजकणों से निर्मित है। रजकण भी वस्तु हैं, रजकण के रूप में स्थिर रहकर भी उसकी अवस्थाऐं बदलती रहती हैं।

आत्मा चैतन्य ज्ञानमूर्ति है, शरीर जड़ है। उसमें उसकी अवस्था समय समय पर बदलती रहती है, वह ज्ञान में मालूम होती है। यहाँ पर आत्मस्वभाव से अजान अज्ञानी जीव, ज्ञेय की अवस्था के बदलने पर मानता है कि मानों मैं बदल गया। शरीर अशक्त हो जाय, कृश हो जाय तो वहाँ यह मान बैठता है कि मैं—आत्मा कृश हो गया और शरीर-इन्द्रिय बल के बढ़ने पर समझता है कि मेरी शक्ति बढ़ गई। इस प्रकार माननेवाला अज्ञानी, आत्मतत्त्व को शरीर से भिन्न नहीं मानता, इसलिये वह वस्तु की हत्या करता है। पर की अवस्था बदलने पर मानों सारा आत्मा ही बदल गया, इस प्रकार मानकर जो अपने पृथक् अस्तित्व को नहीं मानता, वह वस्तु की हत्या करता है। जहाँ इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर मंद पड़ जाता है, वहाँ अपने को ही शिथिल और मंद मान लेनेवाला यह नहीं मानता कि शरीर से आत्मा की स्वतंत्र शक्ति भिन्न है। जो यह मानता है कि शरीरादि के ठीक रहने पर मैं ठीक रह सकता हूँ, वह ज्ञान की स्वाधीन अवस्था का नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतंत्र वस्तु है। उसमें श्रद्धा-ज्ञान अस्तित्व इत्यादि अनंत गुण हैं। उस गुण की अवस्था समय-समय पर उसमें होती है, फिर भी मेरी अवस्था पर से होती है, ज्ञेय के आधार से मेरे ज्ञान की अवस्था होती है, यों माननेवाला अपने आत्मा को पराधीन मानता है। त्रिकाल स्वाधीन तत्त्व को परधीन मानना ही अनंत संसार की जड़ है। पहले जाने हुये ज्ञेय पदार्थ का बाद के काल में नाश होने पर, उसी के साथ मानों मेरा ज्ञान भी नष्ट हो जाता हो, यों माननेवाला अपने ज्ञान की पृथक् सत्ता या पृथक् अस्तित्व को नहीं मानता। वस्तु की अवस्था समय-समय पर बदलती है, यह अपने ज्ञान में मालूम होने पर 'इसके बदलने से मानों मैं भी बदल रहा हूँ।' इस प्रकार माननेवाला अपने ज्ञान की स्वतंत्र अवस्था को नहीं मानता। मुझमें तो कोई शक्ति ही नहीं है, मेरी जानने की शक्ति परवस्तु को लेकर थी, इस प्रकार वह ज्ञान की स्वतंत्र शक्ति को नहीं मानता।

अर्थात् अपनी पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं करता। शरीर में जवानी हो या वृद्धावस्था हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उससे भिन्न ही है, इसे न माननेवाला एकांतवादी पशु है, यह आचार्य भगवान ने कहा है।

भाई! तेरा तत्त्व पर से भिन्न है, यह प्रतीति हुये बिना तू क्या करेगा? कदाचित् पूर्व पुण्योदय से वर्तमान बाह्य सामग्री मिली हो तो वह तेरे वर्तमान समान का फल नहीं है किन्तु पूर्व पुण्य के जलने से यह सामग्री मिली है। यह सामग्री जड़ है, तुझ से भिन्न है, वह तेरे रखाये रहनेवाली नहीं है, क्षण भर में छूमंतर हो जायेगी, क्योंकि वह तत्त्व स्वतंत्र है और तू स्वतंत्र है। तेरी अवस्था उसके कारण नहीं है और न उसकी अवस्था तेरे कारण से है।

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व हैं। स्वतंत्र वस्तु की अवस्था पर को लेकर होती है—यह माननेवाला एकांतवादी अपनी स्वाधीनता की हत्या करता है। स्याद्वाद का ज्ञाता अनेकांतवादी जानता है कि आत्मा में समय समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है, वह मेरे कारण होती है। आँखें कमजोर हो जाये, इन्द्रियाँ शिथिल हो जायें, शरीर अशकत हो जाय तो भी मेरा ज्ञान अशक्त नहीं होता। मेरी अवस्था से मेरा अस्तित्व है, पर की अवस्था मुझसे पृथक है, इस प्रकार स्व काल से अपने अस्तित्व को जानता हुआ ज्ञानी, ज्ञेय वस्तु की अवस्था के नाश से अपना नाश नहीं मानता, किन्तु स्वयं स्व से पूर्ण रहता है। मेरी अवस्था मुझ से है, ज्ञेय की अवस्था भले चाहे जैसी हो किन्तु उससे मेरी अवस्था नहीं बदलती, बाहर की वस्तु बदलने पर भी मेरा ज्ञान तो पूर्ण ही रहता है।

यह माननेवाले पागल हैं कि समय के बदलने पर बुद्धि बदल जाती है। यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता कि समय के अनुसार धर्म बदल जाय। यह दुनियां की गप्पें हैं। रुपया पैसा इत्यादि के चले जाने पर लोग कहते हैं कि 'हाय! हाय!! हमारा सब चला गया, 'हमारे जब था तब सब कुछ था' लेकिन तेरा क्या था? पैसा तो धूल है, वह तेरे थे ही कब? उसमें संसार की रुचि है, इसलिये धूल के ढेर को भी याद कर करके रोता है, किन्तु तीर्थंकर भगवान को याद नहीं करता कि 'भरतक्षेत्र में भी तीर्थंकर भगवान विहार करते थे और धर्म मार्ग प्रवर्त रहा था, अहो! यह धर्मकाल था।'

अनेकांत में चौदह पूर्व का रहस्य है। इंद्रियों के पुष्ट होने से, शरीर के मोटे होने से और धन वृद्धि से आत्मा का श्रद्धान और ज्ञान नहीं बढ़ता। अपने स्वरूप को किसी भी प्रकार के दोष से युक्त न मानकर मेरा स्वरूप निर्दोष वीतराग सिद्ध समान है, इस प्रकार की श्रद्धा करके स्थिर हो तो आत्मा स्वयं सुदृढ़ होता है। अर्थात् शरीरादि के शिथिल होने पर, ज्ञान की उग्रता रहती है। त्रिकाल

में भी मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं है। परवस्तु मुझसे भिन्न है, उस पर के बदलने पर मैं नहीं बदल जाता, मैं तो ज्ञाता हूँ, अखंड हूँ। जानने में यदि पर अनुकूल हो तो राग और पर प्रतिकूल हो तो द्वेष हो, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़ की मिठास कभी भी गुड़ से अलग नहीं होती, उसी प्रकार मेरा ज्ञान मुझ से भिन्न नहीं है, वास्तव में स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी दूसरी ही बात मान बैठा है। जो यह मानता है कि वस्तु के बदलने पर मैं भी बदल जाता हूँ वह दो वस्तुओं को एक मानता है, उसे आत्मा की श्रद्धा या ज्ञान नहीं हैं।

पर का नाश हो जाय, फिर भी मेरी अवस्था मुझ से ही है, यह जाननेवाला अपने अस्तित्व को अपने से ही जानता हुआ यह जानता है कि ज्ञेय पदार्थ का नाश होने से स्वयं नष्ट नहीं होता। जो आत्मा के ज्ञान की अवस्था को पराश्रित मानता है, वह आत्मा को ही हीनातिहीन पराधीन वस्तु मानता है। मेरी अवस्था क्षण क्षण में मेरे द्वारा होती हैं, उसमें पर की अवस्था नहीं है, पर की अवस्था में मेरी अवस्था नहीं है; इसे नहीं जाननेवाला एकांतवादी, ज्ञेय पदार्थ के नाश से ज्ञान का भी नाश मानता है और अनेकांतवादी ज्ञानी, स्व काल अर्थात् अपनी अवस्था से अपना अस्तित्व मानता हुआ अपने में ही स्थिर रहता है ॥२५६॥

अब पर की अवस्था से आत्मा असत् है, यह कहते हैं:—

शार्दूलविक्रीड़ित

अर्थावलंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि—
र्ज्ञेयालंबन लालसेन मनसा भ्राम्यन पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्यकलयन् स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखात नित्य सहज ज्ञानैकपुंजीभवन्॥२५७॥

दूसरे को देखनेवाला किन्तु अपने को न देखनेवाला एकांतवादी तभी तक ज्ञान का अस्तित्व मानता है, जब तक ज्ञान में परवस्तु मालूम होती है और ज्ञेय ठीक रहेंगे तो मैं ठीक रहूंगा; इस प्रकार ज्ञान को ज्ञेय के आधीन मानता है किन्तु परवस्तु से मैं असत् हूँ, परवस्तु मुझ से असत् है–ऐसा वह नहीं जानता।

प्रत्येक तत्त्व है। 'है' के कहते ही वह पर रूप में नहीं है। जो पर रूप से स्वयं नहीं है, वह पर के ऊपर लक्ष्य जाने से ही कहता है कि—'भाई! तू अपनी अपेक्षा से है, पर से तू नहीं है, तू अपने को समझ, अपने स्वरूप को जान' किन्तु इस प्रकार 'मेरी अवस्था मुझ से है, पर से नहीं' यों

न मानकर यह मानता है कि पर ज्ञेय बने रहें तो मेरा ज्ञान ताजा रहे, इसीलिये वह पर विषय में एकाग्र होता है। विषय का अर्थ क्या है ? शरीरादि जड़ वस्तु है-रूपी है। आत्मा चैतन्य अरूपी है, वह रूपी वस्तु का उपभोग नहीं करता किन्तु उस ओर लक्ष्य करके राग में एकाग्र होता है, वही विषय है। आत्मा अरूपी चैतन्यस्वरूप सर्व पर से भिन्न तत्त्व है। पर वस्तु मेरे ज्ञान के सन्मुख हो तो मैं एकसा बना रहूँ, यह माननेवाला अपने पृथक् ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता। ज्ञान क्या करें ? लक्ष्य करे, यदि इच्छा हो तो उस इच्छा को भी ज्ञान ने तो जान लिया। जहाँ जानने में राग करके रुक गया, वहाँ मान बैठा कि मैंने विषय को भोगा है; किन्तु उस समय वह ज्ञान के लक्ष्य में आया है और उसकी इच्छा हुई है, वही विषय है। बाहर की वस्तु उसके कारण आती जाती है, वह आत्मा के आधीन नहीं है। जब आत्मा अपने स्वरूप को भूला, तब पर को रखने की इच्छा हुई और उस इच्छा की प्रवृत्ति में फस गया, इसी को विषय कहते हैं। अज्ञानी उसमें सुख मानता है, वह अपने स्वाधीन सुखस्वभाव को नहीं मानता, बस यही संसार है।

शरीरादि ठीक हों तो मैं ठीक रहूँ अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि मुझमें तो सुख है ही नहीं, मैं तो लूला, लंगड़ा, पराधीन अकिंचित्कर हूँ। यदि शरीर लंगड़ा होता है तो उसे दो लकड़ियों का सहारा चाहिये; किन्तु जो मान्यता में लंगड़ा होता है, उसके तो अनंत पर वस्तुरूप लकड़ियों के सहारे का पार नहीं है। अहा! मैं कौन हूँ ? आत्मा क्या वस्तु है ? स्व क्या है ? और पर क्या है ? इसकी जिसे प्रतीति नहीं होती, उसके जन्म-मरण का अंत कहाँ है ? संपूर्ण स्वाधीन तत्त्व को पराधीन मान बैठे हैं, इसके दो छोर कहीं नहीं मिलते। तेरे ज्ञानतत्त्व को ज्ञेय की लालसा नहीं हो सकती। परवस्तु की अवस्था समाप्त हो जायगी, इस प्रकार जो पर की लालसा रखते हैं, वे स्वतंत्र आत्मतत्त्व को किंचित् मात्र भी ठीक नहीं मानते। ऐसा मूढ़ आत्मा बाहर की वस्तु ठीक रहे तो मैं ठीक रहूँ, इस प्रकार बाह्य वस्तु का अपने को संरक्षक मानता है, लेकिन बाहर की वस्तु उसके बाप की तो है नहीं, जो उसके रखाये रह सके। पदार्थ का संयोग तो अनंत बार आया और चला गया। अनंत बार महान् राजा हुआ और अनंत बार भिखारी भी हुआ। किसी भी परवस्तु का परिमणन आत्मा के आधीन नहीं है। शरीर की आयु को लेकर उसकी स्थिति के अनुसार टिकता है। आत्मा, शरीर को नहीं रख सकता। किसी भी प्रकार स्त्री, पुत्र, पैसा इत्यादि की समानता रहे तो मेरी भी समानता रहे, यों मानकर अज्ञानी जीव बाह्य वस्तु की अवस्था की व्यवस्था को समान रखने में चित्त को भ्रमित बनाये रखता है और अपने लक्ष्य को भूल जाता है। मेरी अवस्था मुझ से होती है,

मेरा और पर का कोई संबंध नहीं है, इस प्रकार नहीं माननेवाला आत्मा की हिंसा करता है।

प्रश्न—जबकि किसी जीव को मारा नहीं हो तो हिंसा किसी की हुई?

उत्तर—पर जीव मरे या न मरे, उसके साथ हिंसा-अहिंसा का संबंध तीन काल में भी नहीं है। किन्तु परवस्तु की अवस्था इस प्रकार रहे तो ठीक और इस प्रकार रहे तो अठीक; यों जिसने माना उसने परवस्तु का परिणमन अपने आधीन माना, यही अनंत हिंसा है। परवस्तु की जो प्रतिकूल अवस्था है, उसे यदि दूर कर दूँ तो ठीक रहे, यह तो मानता है किन्तु मैं अपने राग को दूर कर दूँ तो ठीक रहे, इस प्रकार अपने तत्त्व को पृथक् नहीं मानता। बस! इसी में हिंसा आ गयी।

पर काल यानि पर की अवस्था से मैं नास्तिरूप हूँ और स्व काल से-स्व पर्याय से अस्तिरूप हूँ, इसलिये पर के बदल जाने पर मैं नहीं बदल जाता, यह जानता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा में दृढ़ता से रहनेवाले नित्य सहज ज्ञान के एक पुंजरूप में प्रवर्तमान होता हुआ स्थिर रहता है—नष्ट नहीं होता।

मेरा स्वभाव अविनाशी एकरूप शुद्ध ज्ञायक है। पर की अवस्था भले बदल जाय किन्तु फिर भी मैं एक नित्य रूप हूँ, परवस्तु में मेरा अहंभाव नहीं है। ऐसी श्रद्धा की प्रतीति में परवस्तु के प्रति राग-द्वेष न होना ही स्थिरता है। पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा का होना, सो सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत श्रद्धा तथा विपरीत प्रवृत्ति का होना, सो संसार है। यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ चारित्र का होना, सो मोक्ष है। जो मात्र पर को देखता है और स्व को नहीं देखता, वह पर के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को माननेवाला एकांतवादी मिथ्यादृष्टि है।

सांसारिक व्यापार में लोग सारे व्यापार को 'इक हत्था' करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि सारे बम्बई शहर की चांदी खरीदकर इक हत्थी कर लें और फिर उसे मन चाहे भाव में बेचेंगे किन्तु बाहर से चांदी का आना या न आना तो पुण्य के आधीन है, उसमें आत्मा का बस नहीं है, फिर भी मैं कर सकता हूँ, यह मानकर संसार में परिभ्रमण करने का 'इक हत्था' व्यापार करता है।

परवस्तु में थोड़ा परिवर्तन होने पर पुकार उठता है कि—'हाय! हाय!! अब मेरा क्या होगा?' और इस प्रकार परवस्तु को मूल्यवान बनाकर अपने को बिल्कुल नाचीज मान बैठा है। लेकिन, तू महंगा है या सस्ता? तुझमें कोई तत्त्व है या मात्र पोला है? तू गुणयुक्त वस्तु है या गुणहीन? अरे भाई! तुझमें अनंत शक्ति है, किन्तु तू तो कोरा वम्पुलिस का जमादार बन गया है। समझ! तू स्वतंत्र तत्त्व है, शांतिस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, तू ऐसा नहीं है कि तुझे दूसरे की सहायता की आवश्यकता हो।

जब घर की गागर का पानी समाप्त हो जाता है, तब तालाब घर नहीं आता, किन्तु गागर को लेकर तालाब पर पानी भरने जाना होता है। इसी प्रकार जिसे आत्मा की गरज हो, सत् को समझने का उत्साह हो, और जिज्ञासा जागृत हो, वह सत् को ढूँढकर सुनने को जाये। जो सत् को समझना चाहता है, उसे सत् न मिले—यह नहीं हो सकता, किन्तु बेचारा आत्मा की प्रतीति के बिना इस जगत की धूमधाम में और स्पर्धा में मर गया। उसमें से मुक्त होकर यदि सत् को समझना चाहे तो सत् के निमित्त भी मिल ही जायेंगे। जैसे पर्वतीय जंगलों में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ पैदा होती हैं, वे अपनी आयु को लेकर आती हैं; इसलिये उन्हें बढ़ना है और इसीलिये उन्हें बाह्य वर्षा का निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इस प्रकार जो सत् समझने के लिये तैयार हुआ, उसे सत् का निमित्त मिले बिना नहीं रहता; किन्तु इस समय तो कमाई ही कमाई की पड़ी है। गरीबों को कमाना है और अमीरों को भी कमाना है। कमाई में से फुरसत मिले, तब आत्मा को समझने की चिंता हो न ? पैसे में शांति है कहाँ ? तेरी शांति किसी बाह्य वस्तु में नहीं किन्तु तेरे भीतर ही विद्यमान है। तेरे स्वभाव की शांति के लिये पर की आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी यह सोचा करता है कि यदि परवस्तु अनुकूल हो तो मुझे शांति मिले किन्तु सच बात यह है कि ऐसी मान्यता ही शांति नहीं होने देती। ज्ञानी के भी निम्नदशा में अस्थिरता होती है किन्तु वह जानता है कि यह अस्थिरता मेरे स्वभाव में नहीं है तथा परवस्तु के कारण अस्थिरता नहीं है, मात्र वर्तमान अवस्था की भूमिका के अनुसार पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर अस्थिरता आ जाती है।

परवस्तु चाहे जिस प्रकार परिणमन करे किन्तु मैं उससे पृथक् ही हूँ, तब फिर वह मेरी क्या हानि कर सकती है ? इस प्रकार ाानी सहज ज्ञानस्वरूप में अपने को स्थिर रखता है। अज्ञानी क्या करता है ? अज्ञानी भी किसी पर का किंचित्मात्र भी कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र जानता है और जानने में विपरीत मान्यता के घोड़े दौड़ाता रहता है। शरीर निर्बल होता जाता है और नाड़ी की गति धीमी हो जाती है, तब अज्ञानी कहता है कि 'मेरा जीव नीचे उतरा जा रहा है' किन्तु यह तो अभी क्या है ? शरीर के पृथक् होने पर देहदृष्टिवाले को शरीर शांति कैसे रहेगी ? शरीर पर दृष्टि होने से वह शरीर के मंद हो जाने पर जानता है कि आत्मा ही मंद पड़ गया, इसलिये वह कहता है कि 'मेरा जीव नीचे नीचे उतरा चला जा रहा है' किन्तु जीव नीचे कहाँ उतरेगा ? आत्मा तो शरीरप्रमाण ॥३॥ हाथ का अमूर्तिक तत्त्व अलग ही विद्यमान है। परवस्तु भले ही बदल जाय किन्तु उससे कहीं मैं मंद नहीं पड़ सकता। यदि इस प्रकार जाने और श्रद्धा करे तो यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि

एक ओर शरीर मंद पड़ रहा है और दूसरी ओर आत्मा का आनंद बढ़ता जा रहा है किन्तु अंतिम अवसर पर दृढ़ता तो तब रह सकती है, जब जीव के भीतर पहले से ही श्रद्धा और ज्ञान विद्यमान हो। प्रतीति के बिना दृढ़ता किस की करेगा ? पहले पहचान की हो तो वह अंत में आ उपस्थित हो। देहादि परवस्तु की चाहे जो अवस्था हो किन्तु मेरा स्वभाव तो मुझ में ही है, यह जाननेवाला धर्मात्मा पर से अपने नास्तित्व को जानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता। वह आत्मा में दृढ़ता से विद्यमान नित्य सहजज्ञान के एक पुंजरूप में रहता हुआ निजरूप में स्थिर बना रहता है।

प्रभु ! तू अपने गुणों से परिपूर्ण विद्यमान है। तुझे अपने स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये तू अपने गुणों को परापेक्षित मानकर अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है; किन्तु तेरा धर्म तुझमें है, तेरा स्वभाव तुझसे है, पर में तेरी नास्ति है, तेरा धर्म परावलंबित नहीं है। इस प्रकार न मानकर जो मूढ़ अज्ञानी एकांतवादी जीव, परवस्तु से अथवा पुण्य से या राग से धर्म की आशा रखता है, वह भिखारी है, उसे अनेकांत की खबर नहीं है। ★

सुप्रभात मांगलिक

पूज्य श्री कानजीस्वामी का मांगलिक प्रवचन

चित्पिंड चंडिम विलासि विकासहासः शुद्ध प्रकाश भर निर्भर सुप्रभात।
आनंद सुस्थित सदा स्वलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्य चलार्तिरात्मा॥

(समयसार कलश-२६८)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्य भावैर्नित्योदयः परमयं स्कुरतु स्वभावः॥

(समयसार कलश-२६९)

१- प्रभात तो बहुत उगते हैं किन्तु यह प्रभात (केवलज्ञान प्रकाश) उगता है जो कभी भी अस्त नहीं होता, ऐसी दशा का प्रगट होना ही सच्चा सुप्रभात है। केवलज्ञान का प्रकाश (उदय) ही आत्मा के लिये सुप्रभात का सादि-अनंत काल है।

२- आत्मा में अनंत ज्ञानादि स्वचतुष्टय की 'अस्ति' और राग-द्वेष-मोह की 'नास्ति' स्याद्वाद है।

३- ज्ञान का स्वभाव सुख-आनंदस्वरूप और जगत् के चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंग में समाधान करना है। ज्ञानस्वभाव के जानने में कोई भी अनुकूल-प्रतिकूल नहीं हो सकता। ज्ञान से ज्ञानस्वभाव को जानने पर राग-द्वेष का नाश होता है, वही ज्ञान और ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान स्वयं दु:ख नहीं है। यदि ज्ञान स्वयं दु:खरूप हो तो दु:ख को दूर करने का उपाय क्या होगा? ज्ञान भीतर हो और ज्ञान की क्रिया बाहर हो, सो बात नहीं है। आत्मा का ज्ञान और ज्ञान की क्रिया, यह सब आत्मा में ही है।

४- अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत आनंद आत्मा के स्वचतुष्टय हैं।

(अ) **अनंत दर्शन** - सम्यग्दर्शन के फल में प्रगट होता है।

(ब) **अनंत ज्ञान** - जिसने सत्समागम से आत्मा की सत्ता की समझ की-उसका आश्रय किया, उसके फल में प्रगट होता है, वह अनंत ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान है।

(क) **अनंत आनंद** - जो आत्मा की यथार्थ श्रद्धा करके उसमें स्थिर रहता है (स्वभाव में एकाग्र होनेरूप चारित्र), उसके फल में अनंत काल तक रहनेवाला अस्खलित और निराबाध अनंत आनंद प्रगट होता है।

(ड) **अनंत वीर्य** - सम्यक्श्रद्धा के बाद पुरुषार्थ के फल में आत्मा की अपार शक्ति प्रगट होती है।

५- आत्मा की ज्योति (केवलज्ञान) अचल है। वह एक बार प्रगट होकर कभी भी नाश नहीं होती, इसलिये सादि-अनंत (प्रारंभ होकर अंत न होनेवाली) कहलाती है, ऐसी केवलज्ञान ज्योति में स्वचतुष्टय का एकीकरण है।

६- आत्मा शुद्ध, उसके अनंत गुण शुद्ध और आत्मा के गुणों की जो अवस्था है, वह भी शुद्ध है। उस त्रिकाल शुद्ध-पूर्ण शुद्ध को लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन है। निश्चय से प्रत्येक आत्मा द्रव्य, गुण, पर्याय से त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है।

७- जैसे आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल स्वतंत्र पदार्थ हैं और अपनी अवस्था स्वतंत्रतया रहकर बदलती है-शुद्ध ही रहती है तथा एक पृथक् परमाणु भी शुद्ध पदार्थ है और अपनी अवस्था को स्वतंत्रतया बदलनेवाला है; उसी प्रकार मैं—आत्मा भी शुद्ध और

स्वतंत्रतया त्रिकाल स्थिर रहनेवाला द्रव्य हूँ और मैं ही अपनी अवस्था को स्वतंत्रतया शुद्ध रहकर बदलवा सकता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने गुण और पर्याय से शुद्ध एवं परिपूर्ण है। प्रत्येक आत्मा भी शुद्ध सिद्ध भगवान के समान परिपूर्ण है। इस प्रकार जो स्वभाव की स्वतंत्रता पर—शुद्धता पर दृष्टि रखकर परभाव को दूर करता है, उसके अनंतदर्शन-ज्ञानादि स्वचतुष्टय प्रगट होते हैं।

८- आज के (दीपोत्सवी के) मंगल प्रभात के संबंध में श्रीमद् राजचंद कहते हैं कि "रात्रि व्यतीत हो गई, प्रभात हो गया, द्रव्यनिद्रा से जागृत हुये, अब भावनिद्रा को दूर करने का प्रयत्न करो" मोह अंधकार को दूर करके संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश फैलाओ।

९- आज के मांगलिक प्रभात के संबंध में भी अमृतचंद्राचार्यजी कहते हैं कि जैसे पर में विपरीतमान्यता से सुख का भरोसा किया है, उसी प्रकार अपने में जो अनंतज्ञान-दर्शन भरा हुआ है, यदि उसकी श्रद्धा करे तो चैतन्य निरर्गल (जिसमें किसी प्रकार का मैल नहीं है-बाधा नहीं है, विघ्न नहीं है) विलसित-विकासरूप चैतन्यस्वभाव खिल उठता है अर्थात् विकसित हो जाता है। जब वह चैतन्य ज्योतिरूप सुमंगल विकसित होता है, तब फिर वह कभी भी निश्चयत: अस्त नहीं होता, ऐसे सादि अनंत मंगल प्रभात को (केवलज्ञान को) 'सुमंगल' प्रभात कहते हैं।

अनंत ज्ञान का प्रगट होना अर्थात् जिसका प्रकाश अनंत है—ऐसे केवलज्ञान का प्रगट होना, सो यही सुप्रभात है।

१०- श्री पद्मनंदि आचार्य सुप्रभात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे रात्रि का अंत होने पर अंधकार का नाश हो जाता है और प्रभात का प्रकाश प्रगट होता है, उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूपी अनादिकालीन अंधकार का चैतन्यस्वभाव के द्वारा अंत हो जाता है। मैं चैतन्य मूर्ति पूर्ण प्रकाशमान स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ज्योति हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से एकाग्रता में बढ़ते-बढ़ते अंत में पूर्ण केवलज्ञानरूपी प्रभात उदित होता है। उस केवलज्ञान के तेजस्वी प्रकाश में अज्ञानरूपी कोई भी अंधकार अथवा कर्म का आवरण एक क्षण भर भी नहीं रह सकता-वह नष्ट ही हो जाता है। (पद्मनंदिपंचविंशतिका, पृष्ठ ४४२)

११- उपरोक्त सुप्रभात की प्राप्ति के लिये वंदना—

अनंतवीर्य के विघ्नरूप वीर्यावरण कर्म का नाश करने से जिसके अनंतवीर्य प्रगट हुआ है और चारित्रमोहनीय आदि आवरणों का नाश करने से जिसके अनंत दर्शन, अनंतज्ञान और अनंत

आनंदरूप आँखें खुल गई हैं अर्थात् जो कर्म के आवरणों को भेदकर-नाश करके केवलज्ञानरूपी सुप्रभात के संपूर्ण प्रकाश को प्राप्त हुये हैं, उन भगवंतों को उस प्रकाश की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ। सुप्रभात के सुप्रकाश की प्राप्ति के लिये (जहाँ तक वैसी दशा प्राप्त नहीं होती वहाँ तक) बारंबार नमस्कार करता हूँ।

वीर भगवान की मुक्ति (सिद्धपद की प्राप्ति) और गौतमस्वामी को केवलज्ञान एक ही समय में हुआ था। जगत कहता है 'भगवान ने निर्वाण पाया' तब ज्ञानी कहते हैं 'भगवान ने जीवन पाया' क्योंकि सिद्धदशा ही जीवन है।

१२- सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति के लिये वंदना—

जैसे प्रभात का प्रकाश होने पर रात्रि के अंधकार का संपूर्ण नाश होता है और निद्रित प्राणियों के निद्रा का त्याग होने से दोनों आँखें खुल जाती हैं; उसी प्रकार ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों को-कर्मरूपी मोहनिद्रा को दूर करके जो ज्ञानी-महात्मा पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी दो चक्षुओं को खोलकर स्वभाव में जागृत हुये हैं—ऐसे मुनीश्वरों—ज्ञानी महात्माओं को उस पद की प्राप्ति के लिये नमस्कार हो। जब तक उस पद की प्राप्ति न हो, तब तक पुनः पुनः अनंतबार नमस्कार हो।

१३- श्री आनंदघनजी अपने ही आत्मा को वंदन करके धन्य होते हुये कहते हैं कि—

अहो अहो हुं मुजने कहु, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातार नी, जेथी भेट थई तूजरे।

अहो अहो....।

अर्थ - अहो अहो मैं निज को कहूं नमो निज नमो निज रे।

अमित फलदान दातार की जिससे भेंट हुई तुझको रे॥

अहो अहो....। (अमित-अमर्याद-बेहद)

१४- **श्रीमद् राजचंद्र अपनी वंदना करते हुये कहते हैं कि**—जहाँ अविषमरूप से आत्मध्यान वर्तमान है ऐसे श्री 'रायचंद्र' के प्रति बारंबार नमस्कार हो। मैं अपने आत्मा को क्या कहूँ? मेरे आत्मा को तो बस नमस्कार हों, विनय हो वंदन हो।

इस प्रकार जिन्हें अपने आत्मा की प्रतीति हुई है—ऐसे महापुरुषों को अपने ही आत्मा का माहात्म्य प्रतीत होता है।

१५- श्री आनंदघनजी अपने आत्मा को संबोधते हुये, पुरुषार्थ को जागृत करने के लिये जिनेश्वर के प्रति करार करते हैं कि:—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रगशुं भंग न पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं अे अम कुलवट रीत
हो जिनेश्वर.... धर्म.....

हे चैतन्य! तू अपनी प्रतीति के साथ जागृत हुआ है-उठा है, तू उसमें अन्य का आदर क्यों आने देगा।

१६- अनेकांतवाद—मैं अपने स्वरूप में पूर्ण हूँ—ऐसी श्रद्धा और पर का मुझ में कुछ नहीं है, उसका नाम अस्ति-नास्ति है और यही है अनेकांतवाद।

१७- श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि—चैतन्यस्वरूप के अवलंबन से जिसने स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा की है, जिसका संपूर्ण जाज्वल्यमान तेज है, जो स्वत: संपूर्ण प्रकाशमान है—ऐसा जो केवलज्ञान है, उसका उदय हो! उदय हो!!

मेरे स्वभाव का प्रकाश जिसका नित्य उदय रहता है—ऐसी केवलज्ञान ज्योति, अनंत स्वचतुष्टय मेरे स्वरूप में सादि-अनंत स्फुरायमान रहो-प्रकाशमान रहो।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२३-०८-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड